चाणक्य नीति

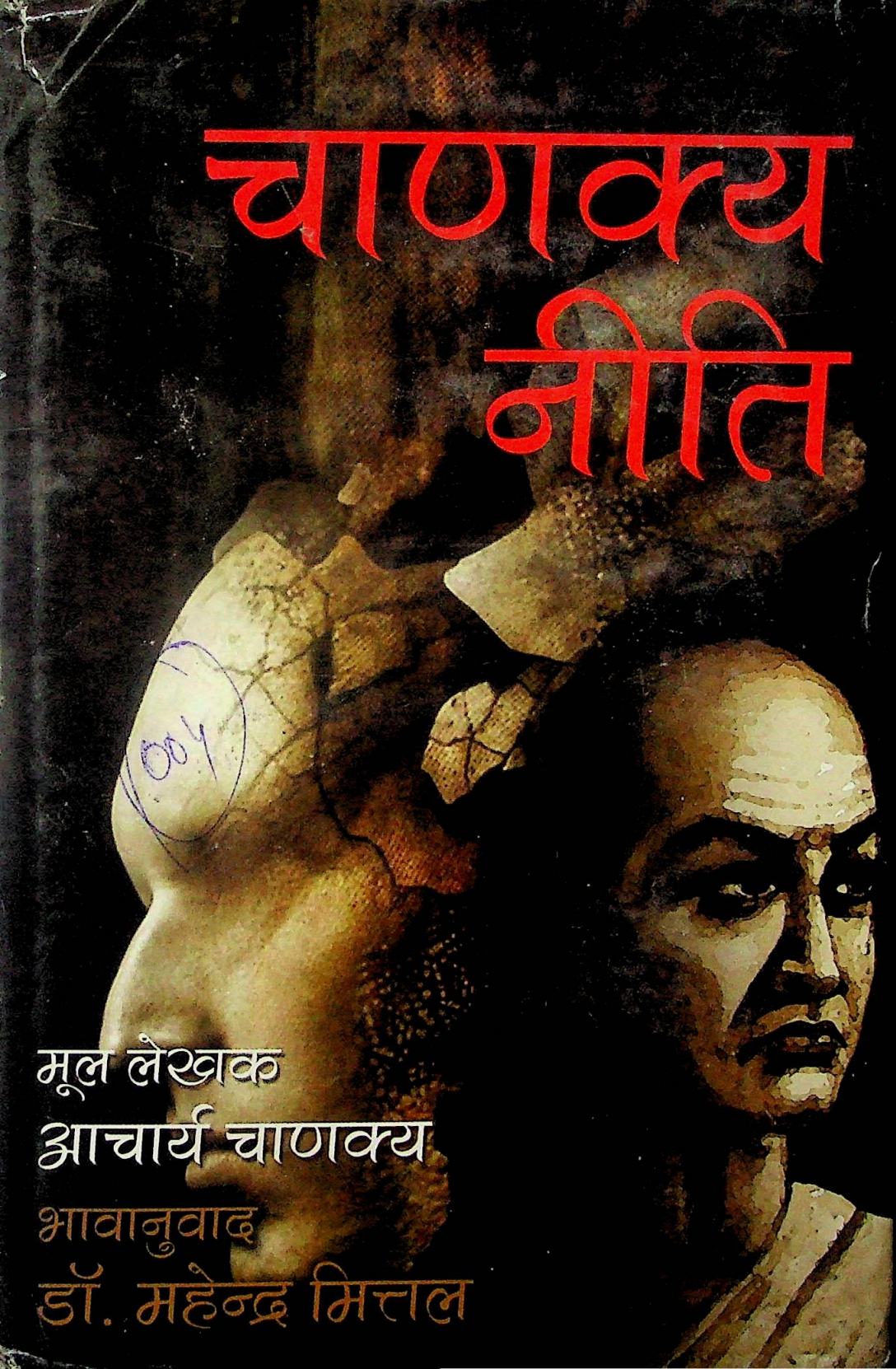

मूल लेखक
आचार्य चाणक्य
भावानुवाद
डॉ. महेन्द्र मित्तल

चाणक्य नीति

Central Library
Acc. No.
Shimla

मूल लेखक
आचार्य चाणक्य
भावानुवाद
डॉ. महेन्द्र मित्तल

न्यू कन्सेप्टस पब्लिशर्स
कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006
New Kanaspatas Publishers, Delhi

भूमिका

भारत में शताब्दियों पूर्व मगध सम्राट नन्द के अत्याचारों से प्रजा त्रस्त थी। मगध सम्राट नन्द, राजा बिम्बिसार व क्रूर अजात शत्रु का वंशज था। अति विलासी, हर समय राग-रंग में मस्त! प्रजा के दुःख-दर्द का ध्यान रखना तो दूर, लोक कल्याण के लिए या अपने कष्ट निवारण के लिए प्रार्थना करने वालों को भी वह सूली पर लटका देता था।

यह वह समय था जब यूनानी आक्रान्ता सिकन्दर आँधी-तूफान की तरह भारत की तरफ बढ़ा चला आ रहा था। छोटे-छोटे राज्य आपस में द्वेष रखते थे। ऐसे समय में सिकन्दर यदि भारत में प्रवेश कर लेता तो सम्भावना यही थी कि देश की पारस्परिक फूट सिकन्दर की भारतीय विजय का मार्ग अवश्य प्रशस्त कर देती।

बहुत विषम बेला थी। उस समय आवश्यकता थी ऐसे युगपुरुष की, जो राजनीति, कूटनीति, शासन व्यवस्था, अर्थनीति के अपने तीक्ष्ण विचारों से समय के प्रवाह को उलट सके। टुकड़ों-टुकड़ों में बँटे छोटे गणराज्यों को एक सूत्र में पिरोकर ऐसे स्थिर, सशक्त तथा लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना कर सके, जिसे देखकर सिकन्दर जैसी तेज आँधी को स्वयं वापस लौट जाना पड़े।

भारत को उस दुर्दशा पर आखिर नियति को दया आ ही गई और उसने उस समय एक तेजपुंज, त्यागी, तपस्वी, दूरदर्शी तथा राजनीति के प्रकाण्ड विद्वान को धरती पर भेज ही दिया। उसी तेजपुंज युगपुरुष का नाम था—चाणक्य! वह चाणक्य, जिसने राजनीति, कूटनीति, तथा शासन का ऐसा विलक्षण मंत्र दिया कि टुकड़े-टुकड़े बँटा भारत, समग्र भारत बन सका।

चाणक्य के बचपन का नाम कौटिल्य था। साथ ही उन्हें विष्णुगुप्त और वात्सायन भी कहा जाता है। सारे विश्व को इन्हीं चाणक्य ने 'अर्थशास्त्र' से भी परिचित कराया। आज भी उनकी नीति, उनके विचार तथा प्रेरणाएँ, व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राष्ट्र का मार्गदर्शन करने में उतनी ही समर्थ हैं, जितनी सदियों पूर्व थीं। सच कहा जाए तो चाणक्य की शासन शैली और विचारों के क्रियान्वयन की आवश्यकता

आज भी है; आज भी राजनीति, धर्म, समाज विकृति से ग्रस्त भी हैं और त्रस्त भी! ऐसे समय में चाणक्य की नीति भारत ही नहीं, बल्कि विश्व के लिए भी उपयोगी है। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर प्रस्तुत पुस्तक 'चाणक्य नीति' की व्याख्या तथा भावार्थ को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, ताकि पाठक चाणक्य के श्लोक तथा अर्थ के साथ उसके अभिप्राय से भी परिचित हो सकें।

चाणक्य निर्लोभी, निस्पृह राजनीतिज्ञ थे। राजनीति के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी वे राज्य के सुख भोग से कोसों दूर थे। इसका उदाहरण है कि जब नन्द के विनाश के पश्चात चन्द्रगुप्त ने शासन सँभाल लिया, तो वे कुछ समय मार्गदर्शन करके वन को चले गए। चन्द्रगुप्त ने उनसे बहुत कहा—'गुरुवर! आप मंत्रीपद ग्रहण करें, मार्गदर्शन करते रहें।' परन्तु चाणक्य नहीं मानें। अन्यायी शासन को हटाने तथा विशृंखलित राष्ट्र को एक करने का उन्होंने अपना उद्देश्य पूर्ण कर लिया था। अब राज्य से या उसके सुख से उनका कोई प्रयोजन नहीं रह गया था। ऐसे थे आचार्य प्रवर चाणक्य!

आशा है इस पुस्तक का सही परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन किया जाएगा और पाठक चाणक्य की नीति के वास्तविक प्रयोजन को समझने में सुविधा अनुभव करेंगे। धन्यवाद!

1-173, शास्त्री नगर
मेरठ-250004
फोन : 0121-2708400
मो.-9759124564

—डॉ. महेन्द्र मित्तल

क्रम

पहला अध्याय	9
दूसरा अध्याय	18
तीसरा अध्याय	27
चौथा अध्याय	37
पाँचवाँ अध्याय	47
छठा अध्याय	57
सातवाँ अध्याय	67
आठवाँ अध्याय	75
नवाँ अध्याय	84
दसवाँ अध्याय	89
ग्यारहवाँ अध्याय	96
बारहवाँ अध्याय	103
तेरहवाँ अध्याय	112
चौदहवाँ अध्याय	119
पन्द्रहवाँ अध्याय	126
सोलहवाँ अध्याय	133
सत्रहवाँ अध्याय	140

पहला अध्याय

प्रणम्य शिरसा विष्णु त्रैलोक्याधिपति प्रभुम।
नाना शास्त्रोद्धृतं वक्ष्ये राजनीति समुच्चयम्।।(1)

अर्थ—तीनों लोकों के स्वामी, सर्वशक्तिमान श्री विष्णु को शीश नवाकर प्रणाम करते हुए, में अनेक शास्त्रों के सार राजनीति समुच्चय को प्रस्तुत करता हूँ।। (1)

भाव—युगपुरुष व राजनीति के प्रकाण्ड विद्वान चाणक्य ने जो राजनीति सम्बन्धी विचारों को इस नीतिशास्त्र में प्रस्तुत किया है वे सब भारतीय धर्म शास्त्रों से उद्धृत हैं जिसका यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत के आर्ष-ग्रन्थों में राजनीति के सिद्धान्त व विचार पाए जाते हैं और जिनका गहन अध्ययन चाणक्य को था, इसके अतिरिक्त सृष्टि को संतुलित रखने वाली शक्ति भगवान विष्णु का चाणक्य का प्रथम प्रणाम करना यह सिद्ध करता है कि आचार्य चाणक्य भगवान विष्णु के अनुरागी थे।

अधीत्येद यथाशास्त्रं नरो जानाति सत्तमः।
धर्मोपदेश विख्यातं कार्याकार्य शुभाभुभम्।। (2)

अर्थ—राजनीति के इस समुच्चय को विधिपूर्वक अध्ययन व धर्मशास्त्र के उपदेश से कर्तव्य व अकर्तव्य को, श्रेष्ठ व निकृष्ट को उत्तम पुरुष जानता है।। (2)

भाव—भारतीय धर्मशास्त्रों में वर्णित राजनीतिक सिद्धान्तों का विधिपूर्वक अध्ययन व्यक्ति को वह विवेक प्रदान करता है जिससे वह व्यावहारिक जीवन में अपने कर्तव्य को भलीभाँति समझ सकता है साथ ही श्रेष्ठ विचार, श्रेष्ठ नीति, श्रेष्ठ कर्म का भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है जिससे व्याप्त हो जाने वाली निकृष्टता का समाधान सुविधा से हो जाता है।

तदहं सम्प्रवक्ष्यामि लोकानां हित काम्यया।
यस्या विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञत्व प्रपद्यते।।(3)

अर्थ—लोकहित की कामना से मैं इस शास्त्र को कहूँगा जिसके ज्ञान से मनुष्य सब कुछ जान लेने वाला बन जाता है।। (3)

भाव—नीतिशास्त्र को प्रस्तुत करने में आचार्य चाणक्य की दृष्टि लोकहित की हैं और उद्देश्य यह है कि भारत की राजनीति धर्मशास्त्रों के नियमों तथा नीतिशास्त्रों पर आधारित हो, क्योंकि भारतीय धर्मशास्त्रों में जो राजनीति के सिद्धान्त हैं वह अतिन्द्रिय क्षमता सम्पन्न ऋषियों द्वारा निर्धारित किए गए हैं न कि तात्कालिक घटनाओं, स्थितियों और सनक के अधकचरे-पन द्वारा। इस आधार पर भारत का राजनीतिक दर्शन भी इतना समग्र है कि उसका ज्ञान मनुष्य को सर्वज्ञता की स्थिति तक पहुँचा सकता है।

मूर्ख शिष्योपदेशेन दुष्टास्त्री भरणेन च।
दुःखितैः सम्प्रयोगेण पण्डितोऽप्यवसीदति।। (4)

अर्थ—मूर्ख छात्रों को पढ़ाने तथा दुष्ट स्त्री के पालन-पोषण से और दुखियों के साथ सम्पर्क रखने से बुद्धिमान व्यक्ति भी दुःखी होता है।। (4)

भाव—अमृत सदैव सोने के पात्र में रखा जाता है तथा छाछ को मिट्टी के पात्र में ही रखना पड़ता है, इसी प्रकार विद्या भी प्रतिभावान छात्र को ही देनी चाहिए अन्यथा मूर्ख छात्र को विद्या प्रदान करने से बुद्धिमान व्यक्ति को मानसिक क्लेश होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार दुष्ट स्त्री का पालन-पोषण करना दुखदाई इस कारण है कि वह अपने स्वभाववश सदैव असंतुष्ट और चिढ़चिढ़ापन ही प्रस्तुत करती है। दुःखी लोग भी बुद्धिमान व्यक्ति के परामर्श पर ध्यान न देते हुए सदैव निराशा के विचारों में डूबे रहते हैं, ऐसे में यदि बुद्धिमान व्यक्ति दुःखी व्यक्तियों के सम्पर्क में रहेगा तो अनजाने ही संगतिदोष के कारण उसके भी भाव दुखमय होने लगते हैं।

दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः।।(5)

अर्थ—दुष्ट पत्नी, धूर्त मित्र, अवज्ञाकारी सेवक तथा जिस घर में साँप हो वहाँ मृत्यु है इसमें संशय नहीं।। (5)

भाव—दुष्ट पत्नी की कुटिलता उसके पति को कभी भी ऐसे संकट

में डाल सकती है जो मृत्यु संकट का भी रूप धारण कर ले तो कोई आश्चर्य नहीं! धूर्त मित्र भी छल-कपट को अपनी विशेषता मानता है जिसे सिद्ध करने के लिए वह किसी को भी मृत्यु के कगार पर पहुँचाना अपना बड़प्पन समझता है। अवज्ञा करने वाला नौकर अपने स्वामी के प्रति बफादार नहीं होता और अवसर मिलते ही उसे मृत्यु के मुँह में धकेलने से परहेज नहीं करता, वास्तव में ये तीनों घर में रहने वाले उस साँप की तरह हैं जो कभी भी डसने में संकोच नहीं करते और संकट के रूप में सदैव घर में वास करता है।

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारोपि धनैरपि।।(6)

अर्थ—विपत्ति के समय काम आने के लिए सदैव धन की रक्षा करनी चाहिए, तथा धन से स्त्री की रक्षा करें और स्वयं की रक्षा धन तथा स्त्री सभी से करनी चाहिए।। (6)

भाव—मानव जीवन में सदैव धन की महत्ता रही है इसलिए कहा जा सकता है कि आचार्य चाणक्य का युग भी धन के महत्त्व से अछूता नहीं था, इस धन के अभाव में मित्र, हितैषी, सम्बन्धी सभी साथ छोड़ देते हैं। विपत्ति के समय भी सभी किनारा कर लेते हैं, किन्तु यदि मनुष्य थोड़ी दूरदर्शिता से काम ले और थोड़ी-थोड़ी बचत धन की करता रहे तो विपत्ति आने पर वह बूँद-बूँद जुड़ा धन उसका सर्वश्रेष्ठ मित्र बनकर साथ देता है। यदि किसी के बस धन न हो तो उसकी स्त्री को कोई भी छल से बलहीन कर सकता है, और यदि वह धन की रक्षा करता रहा है तो उसकी स्त्री कभी उसे छोड़कर नहीं जा सकती। लेकिन ऐसा नहीं है कि धन या स्त्री से कभी कोई ख़तरा नहीं हो सकता, एकत्र धन को देखकर स्त्री भी लालच में शत्रु बन सकती है इसलिए चाणक्य सचेत करते हैं कि मनुष्य को धन व स्त्री दोनों से स्वयं की भी रक्षा करनी चाहिए।

आपदर्थे धनं रक्षेच्छीमतश्च किमापदः।
कवाचिच्चलिता लक्ष्मीः संचिताऽपि विनाश्यति।।(7)

अर्थ—आपत्ति निवारण के लिए धन की रक्षा करें क्योंकि धनवान के लिए विपत्ति कैसी? लक्ष्मी चंचल है अतः कभी संचित धन भी नष्ट हो

जाता है।। (7)

भाव—जीवन में कभी भी विपत्ति आ सकती है यह स्वाभाविक बात है किन्तु व्यावहारिकता यह है कि ऐसे आपत्ति काल के लिए धन का संचय करते रहना चाहिए। यहाँ आचार्य चाणक्य मनुष्यों के लिए आय-व्यय प्रबन्धन की अनिवार्यता का प्रतिपादन कर रहे है, जीवन में आय अधिक तथा व्यय कम की नीति कारगर रहती हैं जिसके माध्यम से कोई भी शीघ्र धनवान बन जाता है और विपत्तियों का सामना करने में समर्थ भी! यह ध्यान भी रहे कि लक्ष्मी (धन) चंचल है, सम्भव है संचित धन भी नष्ट हो जाए ऐसे में धनार्जन के साथ-साथ उसके व्यय में भी समझदारी रखी जाए।

यस्मिन् देशे न सम्मानो न वृत्तिर्न च बांधवाः।
न च विद्यागमोऽत्यस्ति वासस्तत्र न कारयेत्।। (8)

अर्थ—जिस देश में आदर न हो, जीविका न हो, परिवार नहीं और विद्या की प्राप्ति भी नहीं हो, वहाँ बसना नहीं चहिए।। (8)

भाव—आदर, सम्मान आजीविका , परिवार तथा विद्या ये सारी चीजें जहाँ हैं वही बसने योग्य स्थान है अन्यथा नहीं! यदि सम्मान हो किन्तु आजीविका, परिवार या विद्या का अभाव है तो सम्मान भी हाथ से जाता रहेगा, और यदि आजीविका हो तो केवल उससे भी काम नहीं चलता क्यों परिवार के अभाव में एकाकीपन तथा असुरक्षा की भावना रहेगी ऐसे में आजीविका भी छिन सकती है। तात्पर्य यह कि उक्त चीजों में से एक का भी अभाव मनुष्य को अपंग बना सकता है।

धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पंचमः।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवसं बसेत्।। (9)

अर्थ—जहाँ धनी, वैदिक ब्राह्मण, राजा, नदी और वैद्य ये पाँच न हों, वहाँ एक भी दिन नहीं रहना चाहिए अर्थात् ये पाँचों ही मनुष्य के लौकिक और पारलौकिक लाभ के हेतु हैं।। (9)

भाव—मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं में भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा स्वास्थ्य तथा चिकित्सा आते हैं, ये उसी स्थान पर उपलब्ध होंगे जहाँ कोई राज्य व्यवस्था अथवा शासन हो, राज्य, वित्त अर्थात् धन पर टिका होता हैं और राज्य धन धनवानों से कर के रूप में प्राप्त करके उसे जनकल्याण में

लगाता है, धनवान वहीं होंगे जहाँ व्यापार व वाणिज्य होगा, परन्तु फिर भी उस स्थान के लोगों को सुसंस्कारों से सुसज्जित करने के लिए शास्त्रज्ञान कराने वाले वैदिक ब्राह्मणों का होना अनिवार्य है ताकि वातावरण में नैतिकता की सुगंध बसी रह सके। स्वास्थ्य और चिकित्सा की देख-रेख वैद्य या चिकित्सक करते हैं और समाज में उनकी अनिवार्यता है, अन्नोत्पादन खेती पर और खेती जल पर निर्भर करती है। इसलिए धनी, वैदिक ब्राह्मण, राजा, नदी और वैद्य हर स्थान पर अनिवार्य होते हैं जहाँ एक का भी अभाव हो वहाँ एक दिन भी रहना मूर्खता ही है।

लोकयात्रा भयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता।
पंच यत्र न विद्यन्ते न कुर्यात्तत्र संगतिम्।।(10)

अर्थ—जहाँ जीविका, डर, लज्जा, चतुराई और कुछ न कुछ त्याग करने की लगन—ये पाँच न हों, वहाँ के लोगों की संगति न करें।। (10)

भाव—ऐसे स्थान जहाँ आजीविका के साधनों का अभाव हो, लोगों को ईश्वर का भय न हो, पाप करने में लज्जा का अभाव हो साथ ही सम्बन्धों के निर्वाह में चतुरता का लेश न हो और जहाँ लोग स्वार्थी तथा त्याग भावना को मूर्खता समझते हों, उस स्थान के लोगों से सम्पर्क नहीं रखना ही श्रेयस्कर होता है। तात्पर्य यह कि जीवनयापन के साधनों का अभाव तथा सिद्धान्तहीन जनसमुदाय वाला स्थान उपयोगिता की दृष्टि से शून्य होता है जहाँ से सम्पर्क और संगति रखना उचित नहीं।

ज्ञानीयात् प्रेषणे भृत्यान बान्धवान व्यसनागमे।
मित्रं चापत्ति काले तु भार्या च विभवक्षये।।(11)

अर्थ—सेवक को कहीं भेजने पर, भाई, बन्धुओं को संकट के समय, मित्र को विपत्ति आने पर और स्त्री को धन का नाश होने पर पहचानना चाहिए।। (11)

भाव—मनुष्य का जीवन कभी-कभी अपनों के स्वार्थ, विश्वासघात तथा उपेक्षा से घिर जाता है। इन अपनों में सेवक, भाई-बन्धु, मित्र तथा स्त्री आदि आते हैं इन्हें परख कर, व्यवहार करने का उपदेश देते हुए चाणक्य कहते हैं कि सेवक जब कहीं बाहर भेजा जाए तो पता लगाया जा सकता है कि बाहर उसने सौंपे हुए कार्य के प्रति कितनी तत्परता दिखाई और बाहर अपने समय

का उपयोग कितना स्वामी के प्रति किया, यदि उसने सैर-सपाटे और मस्ती में ही समय तथा स्वामी का धन व्यर्थ किया तो ऐसा सेवक स्वामि-भक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि संकट के समय भाई-बन्धु तुरन्त सहायता के लिए उपस्थित हो जाते हैं तभी वे अपने भाई-बन्धु कहाने योग्य हैं, मुँह फेर लेने वाले नहीं। यदि विपत्ति के समय मित्र हमारे काम आने के बजाय हमारी आलोचना करे और सहायता लेशमात्र न करे तो वह मित्रता ही व्यर्थ है। धन नष्ट हो गया तो सभी साथ छोड़ देते हैं, ऐसे में यदि स्त्री छाया की तरह साथ रहे तो वह वास्तव में हमारी हितैषी है, धननाश के समय छोड़कर चली जाने वाली स्त्री नहीं।

आतुरे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसंकटे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठाति स बान्धवः।।(12)

अर्थ—रोग में, संकट काल में, अकाल के समय, दुश्मनों से दुःख आने पर, राजद्वार (गवाही आदि) में और श्मशान पर जो साथ दे (रहे) वही भाई-बन्धु है।।(12)

भाव—भाई-बन्धु की पहचान क्या है यहाँ आचार्य चाणक्य उसी पहचान का आधार प्रस्तुत कर रहे हैं क्योंकि मात्र भाई-बन्धु का मुखौटा लगाने वाले या मीठी-मीठी बातें बनाने वाले भाई-बन्धु नहीं बल्कि ठग भी होते हैं। अतः बीमारी के समय विनम्र सेवा करने वाले, संकट के समय और शत्रुओं से घिरने पर सहायता करने वाले ही सगे हो सकते हैं। यहाँ राजद्वार व श्मशान में साथ रहने का उल्लेख भी इसी अवसर को रेखांकित करता है अर्थात् किसी न्यायालय में साक्ष्य देते समय यदि कोई हमारे पक्ष में बोलता है तो वह अपना भाई-बन्धु ही मान्य है। परिवार में किसी दुखद घटना पर छोड़कर आने वाला तथा श्मशान तक बराबर साथ देने वाला यही साबित करता है कि वह हमारे मात्र सुख में ही नहीं वरन् दुःख में भी सहभागी है क्योंकि मात्र सुख में ही सहभागिता रखने वाले दुःख के समय बहाना बनाकर मुँह मोड़ लेते हैं, उन्हें अपना भाई-बन्धु मानना मूर्खता है।

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवं परिषेवते।
ध्रुवाणि तस्त नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि।।(13)

अर्थ—जो अपने निश्चित कार्यों अथवा वस्तुओं को छोड़कर,

अनिश्चित की चिन्ता में पड़ा रहता है, उसका अनिश्चित तो नष्ट ही है, निश्चित भी नष्ट हो जाता है।। (13)

भाव—चाणक्य का यहाँ उपदेश है कि अपने निश्चित कार्यों को ही पूरे मनोयोग से पूर्ण करना चाहिए क्योंकि वे कार्य हमारे लिए निश्चित हैं उन्हें हमें ही पूर्ण करना है और उनसे लाभान्वित भी हमें ही होना है, जबकि अनिश्चित कार्यों में लग जाने से न तो हमें कोई लाभ होगा और न वे हमारे लिए नियत किए हैं परन्तु इस स्थिति में कोई अपने नियत कार्य की उपेक्षा करके अनिश्चित और अनियत कार्यों की चिन्ता करे तो उसके हाथ से निश्चत कार्य भी छूट जाता है। अर्थात् 'आधी को छोड़ पूरी को धावे, आधी रहे न पूरी पावे।'

वरयेत्कुलजां प्राज्ञोर्विरूपामपि कन्यकाम्।
रूपशीलां न नीचस्य विवाहः सद्रशे कुले।।(14)

अर्थ—बुद्धिमान व्यक्ति अच्छे कुल में पैदा हुई कुरूप कन्या से विवाह कर ले किन्तु अच्छे रूप व स्वभाव से युक्त भी नीच कुल की कन्या से नहीं, क्योंकि विवाह समान कुल में उत्तम होता है।। (14)

भाव—कुल-परम्परा वैज्ञानिक परम्परा है जिसका सम्बन्ध रक्त आनुवंशिकता के आधार पर होता है, विवाह आदि के समय इसका महत्त्व भारत में माना जाता रहा है इसलिए यहाँ समान कुल-परम्परा में विवाह सम्बन्ध किए जाते थे, इससे व्यक्तित्वों की विकास यात्रा अवरुद्ध नहीं हो पाती और समाज में एक ही गुण, कर्म, स्वभाव के व्यक्तियों का अस्तित्व बना रहता था। आचार्य चाणक्य का यही संकेत है केवल स्वभाव या रूप अच्छा होना विवाह का आधार नहीं होना चाहिए बल्कि कुल श्रेष्ठ होना चाहिए क्योंकि रूप और स्वभाव समयानुसार बदलता है परन्तु अच्छे कुल का जन्मा व्यक्ति कमोबेश अपने पूर्वजों के गुणों और कर्मों से अवश्य प्रेरित रहता है। विडम्बना है कि आज विवाह का आधार रूप और धन हो गया है जिससे श्रेष्ठ कुल परम्परा का ह्रास होने से समाज में अशान्ति का वातावरण है।

नदीनाञ्च नरवीनाञ्च श्रङ्गीणां शस्त्रपाणिनाम्।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च।।(15)

अर्थ—नदियों का, बाघ, शेर आदि नाखूनों वालों का, सींग वालों का, हाथ में शस्त्र लिए हुए तथा स्त्रियों और राजा के निकटवर्तियों का विश्वास नहीं करना चाहिए।

भाव—नाखून वाले हिंसक पशु कभी भी आक्रामक हो सकते हैं इसलिए उन पर विश्वास करना घातक होता है।

इसी प्रकार नदियों के जल में वेग और गहराई की अनभिज्ञता तथा उसके भीतर ख़तरनाक जल-जीव भी प्राण संकट पैदा करने वाले होते हैं। नदी में कब कहाँ भँवर पैदा हो इसका भी अनुमान लगाना कठिन हुआ करता है अत: चाणक्य के अनुसार नदी का विश्वास करना ही श्रेयस्कर है।

यही स्थिति शस्त्र थामे हुए व्यक्ति की भी है, वह भी विश्वसनीय नहीं होता। क्या पता उसकी वृत्ति कब हिंसक हो उठे! स्त्रियों का विश्वास इसलिए उचित नहीं कि उनके मन में क्या है इस भेद को कोई नहीं जान सकता है, वैसी भी स्त्रियाँ माया का प्रतीक हैं अत: उन पर विश्वास करना स्वयं को धोखा देना है। राजाओं यानि शासन से जुड़े लोग न जाने कब अपने स्वार्थवश किसी का ग़लत उपयोग करने लगें और विपत्ति खड़ी कर दें इसलिए वे भी विश्वासपात्र नहीं माने जा सकते, उनसे मित्रता और शत्रुता दोनों ही दुखदाई होती है।

विषादप्यमृतं ग्राह्यम मेध्यादपि काञ्चन।
नीचादप्युत्तभां विद्यां स्त्रीर त्नं दुष्ट कुलादपि।।(16)

अर्थ—विष से भी अमृत, अशुद्ध स्थान से भी सोना, नीच कुल वाले से भी श्रेष्ठ विद्या और बुरे कुल से भी रत्नरूपी स्त्री ग्रहण कर लेना उत्तम है।।(16)

भाव—बुद्धिमान व्यक्ति की विशेषता है कि वह विष समान वस्तुओं, स्थान, स्थितियों और व्यक्तियों में से अमृत समान उपलब्धियाँ अर्जित कर सकता है चाहे वह जहर से औषधि बनाना हो अथवा अशुद्ध स्थान से सोने का उत्खनन कार्य हो या नीच कुल वाले से विद्या प्राप्ति हो अथवा बुरे कुल की श्रेष्ठ स्त्री हो, इन्हें प्राप्त करना उत्तम कार्य की श्रेणी में आता है।

आहारो द्विगु: स्त्रीणां लज्जा चापि चतुर्गुणा।
साहस: षडगुणश्चैव कामश्चाष्टगुण: स्मृत:।।(17)

अर्थ—पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का भोजन दुगुना, लज्जा चौगुनी, हिम्मत छह गुनी और काम (रति इच्छा) आठ गुनी अधिक होता है।। (17)

भाव—निसन्देह स्त्री में लज्जा चौगुनी होती है, भारत में स्त्रियों का आंकलन यही सिद्ध करता है। उनमें लोकाचार, मर्यादा के प्रति ज्यादा सजगता पाई जाती है, किन्तु जहाँ तक पुरुष से स्त्री का भोजन दुगुना होने का प्रश्न है तो चाणक्य मंतव्य यही हो कि घरेलू कार्यों में श्रम अधिक होने या भोजन के प्रति रुचि होने से उसकी मात्रा अधिक हो जाती हो, किन्तु यह तो पुरुष पर भी लागू होता है। इसमें भी सन्देह नहीं कि स्त्रियाँ समय पड़ने पर अधिक साहसी सिद्ध होती हैं और कामांध हो जाने पर उन्हें रोक पाना कठिन होता है। वैसे अपनी इस काम भावना पर नियंत्रण रखने की विशिष्टता भी पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक पाई जाती है।

दूसरा अध्याय

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभिता।
अशोचत्वं निर्दयत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः।।(1)

अर्थ—असत्य भाषण, उतावलापन, छल-कपट, मूर्खता व अतिशय लोभ और दयाहीनता ये सब दोष स्त्रियों के स्वाभाविक हैं।। (1)

भावा—कदाचित चाणक्य के काल में किसी कारणवश स्त्री में यह दोष स्वाभाविक रहे हों, किन्तु देखा जाता है कि पुरुष में भी यह दोष पाए जाते हैं। राजा किसी स्त्री के मोहजाल में न उलझे इस कारण सम्भव है चाणक्य ने स्त्री के प्रति ऐसा उपदेश दिया ताकि सतर्कता का निर्वाह किया जा सके।

भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वरांगना।
विभवो दान शक्तिश्च नाल्पस्य तपसः फलम्।।(2)

अर्थ—सुस्वादु भोजन की सामग्री प्राप्त हो तथा भोजन करने तथा पचाने की शक्ति हो, अच्छी स्त्री हो और प्रेम (रति) करने की शक्ति हो, पूर्ण धन हो, और दान करने में उत्साह हो, ये सभी कर्म तपस्या के फल हैं।। (2)

भाव—आचार्य चाणक्य का मत है कि तप के द्वारा शरीर, धन व दान धर्म कार्यों के प्रति स्वाभाविक उत्साह की वृद्धि होती है। भौतिक, आत्मिक क्षेत्र में उन्नति के फलस्वरूप उन्हें भोगने की शक्ति भी तप के माध्यम से प्राप्त हुआ करती है।

यस्य पुत्रा वशीभूता भार्या छन्दानुगामिनी।
विभवे यश्च सन्तुष्टस्तस्य स्वर्ग इहैव हि।।(3)

अर्थ—आज्ञाकारी पुत्र हो, स्त्री मन के अनुकूल चलने वाली हो तथा जिसे अपने धन पर सन्तोष हो तो उसका स्वर्ग यहीं है।। (3)

भाव—वास्तव में सुख स्वर्ग का दूसरा नाम है और दुःख नर्क का! अनुकूलताओं में सुख का अनुभव होता है तथा प्रतिकूलताओं में दुःख की अनुभूति हुआ करती है। इस दुःख-सुख या अनुकूलताओं-प्रतिकूलताओं में मनुष्य की आर्थिक, मानसिक और परिवारिक स्थिति की विशेष भूमिका रहती है। यदि सन्तान आज्ञाकारी है और पत्नी भी, और घर की आर्थिक दशा अच्छी है साथ ही आर्थिक दशा पर नकारात्मक सोच नहीं है तो स्वाभाविक है कि मनुष्य को स्वर्गीय परिस्थिति का अनुभव होगा। परिवारिक कलह, विघटन उन परिवारों में भी होता है जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है, उसका कारण यही है कि उस परिवार में सन्तोष की कमी है जिस कारण सम्पन्न दशा में भी नारकीय स्थिति बनी रहती है।

ते पुत्रा ये पितुर्भक्ताः स पिता यस्तु पोषकः।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः सा भार्या यत्र निवृतिः।।(4)

अर्थ—वही पुत्र है जिसमें पितृभक्ति है और पिता वही है जो सन्तान का पोषक है, मित्र वह है जिसमें विश्वास हो, स्त्री वह है जिससे सुख-शान्ति प्राप्त हो।।(4)

भाव—आचार्य चाणक्य यहाँ आदर्श परिवार की संक्षिप्त रूपरेखा का रेखांकन करते हैं कि पुत्र में पिता के प्रति श्रद्धा व आज्ञाकारिता व पिता में सन्तान के पालन-पोषण की तत्परता होनी चाहिए। स्त्री में सौम्य व्यवहार हो तो वह सुख-शान्ति प्रदान करने वाली होती है। मित्रता का आदर्श भी परस्पर विश्वास है। अविश्वसनीय मित्र संकट का कारण बन सकता है।

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रिय वादिनम्
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्।।(5)

अर्थ—मुख पर मृदुभाषी और परोक्ष में सारे कार्य नष्ट करने वाले मित्र को कण्ठ में दूध और भीतर विष से भरे घड़े की तरह त्याग देना चाहिए।।(5)

भाव—छद्म आचरण वाले कथित मित्र मुँह से मीठा बोलकर पीछे से हर कार्य पर पानी फेरने में लगे रहते हैं, वास्तव में ऐसे लोग मित्र के वेश में शत्रु ही होते हैं। अतः इन्हें जहर से भरे घड़े की उपमा देते हुए आचार्य चाणक्य जहाँ सतर्क करते हैं वहीं उन्हें त्यागने का भी उपदेश देते हैं।

न विश्वसेत्कुमित्रे च मित्रे चपि न विश्वसेत्।
कदाचित्कुपितं मित्रं सर्वं गुह्यं प्रकाशयेत्।।(6)

अर्थ—बुरे मित्र पर ही नहीं वरन् अनन्य मित्र पर भी चाणक्य के मतानुसार विश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि अपना अनन्य मित्र रुष्ट हो जाने पर गुप्त बातों को प्रकट कर सकता है।। (6)

भाव—सम्पर्क क्षेत्र में बुरे और अच्छे मित्र दोनों ही हुआ करते हैं, किन्तु बुरे मित्र का विश्वास तो मूर्खता है ही अपितु अनन्य मित्र के प्रति विश्वास भी महँगा हो सकता है। आचार्य चाणक्य इसका कारण भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अनन्य मित्र जब भी रुष्ट होगा तो निश्चित ही गुप्त बातों को कहीं भी प्रकट कर सकता है, इसलिए आस-पास उपस्थित अनन्य मित्रों के प्रति भी सतर्क दृष्टि रखते हुए उन पर विश्वास नहीं करना चाहिए।

मनसा चिन्तितं कार्यं वाचा नैव प्रकाशयेत्।
मन्त्रवद्रक्षयेद गूढं कार्य्ये चापि नियोजयेत्।। (7)

अर्थ—जो विचार मन में किया हो उसे वाणी द्वारा प्रकट नहीं करना चाहिए, उस विचार की मन्त्र की तरह रक्षा करते हुए कार्य में लगाना चाहिए।। (7)

भाव—जीवन में हर सफलता इस नीति पर निर्भर करती है कि कार्य योजना को पूर्ण होने से पूर्व गुप्त रखा गया या नहीं। यदि अपने विचार व कार्यक्रम पहले से ही वाणी से व्यक्त कर दिए जाएँ तो सम्पर्क के ईर्ष्यालु लोग उसमें रुकावटें खड़ी कर सकते हैं, इसलिए सिद्धि के लिए जिस प्रकार मंत्र को गुप्त रखा जाता है उसी प्रकार उद्देश्यों को प्राप्ति में सोचे गए कार्यक्रम व संकल्प, विचार आदि सदैव गोपनीय ही रखे जाने चाहिए अन्यथा लक्ष्य की सफलता संदिग्ध हो जाती है। आचार्य चाणक्य का सूत्र राजनीति में तो बहुत उपयोगी है ही साथ ही मनुष्य जीवन में भी इसका महत्त्व है। किसी को बिना कुछ बताए चुपचाप अपने काम में लगे रहने वाले निश्चय ही सफलता प्राप्त करते है।

कष्टं च चलु मूर्खत्वं कष्टं च खलु यौवनम्।
कष्टात् कष्टतरं चैव परगेह निवासनम्।।(8)

अर्थ—मूर्खता में कष्ट है और युवावस्था में भी कष्ट है। वह भी

दुःखदायी हैं, परन्तु सब कष्टों से बड़ा कष्ट है पराए घर में निवास करना।। (8)

भाव—मूर्ख व्यक्ति अपनी मूर्खता के कारण पग-पग पर विपत्ति में पड़ता रहता है और कष्ट भोगता है। समाज उसे हेय दृष्टि से देखता है और उसकी आलोचना करता है, उसके अपने और परिवारीजन उसकी उपेक्षा करते हैं और ठोकर मारते हैं, इसी प्रकार युवावस्था के जोश में अविवेकपूर्ण कार्यों के कष्टदायी परिणाम सामने आते रहते हैं और कष्ट भोगना पड़ता है, परन्तु इससे भी कष्टकारी स्थिति वह है जब पराए घर में रहना पड़े। ऐसी स्थिति में तिरस्कार, व्यंग्य, उपेक्षा के तीखे तीर मनुष्य के हृदय को बींध कर रख देते हैं। यहाँ यही संकेत है कि पराए घर में ठहरना या निवास करने की स्थिति न आने दी जाए क्योंकि इससे बड़ी मानसिक त्रासदी और कोई नहीं हो सकती।

शैले-शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे-गजे।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने-वने।। (9)

अर्थ—प्रत्येक पर्वत पर मणि नहीं पाई जाती और हर हाथी में मुक्ता मणि (मोती) नहीं होती, सभी जगह साधु नहीं मिलते, हर एक वन में चन्दन नहीं होता, अर्थात् अच्छी वस्तुएँ विशेष स्थानों पर ही मिला करती हैं।। (9)

भाव—आचार्य चाणक्य के कथन का अभिप्राय यहाँ यह है कि संसार में सदैव श्रेष्ठ, साधु पुरुषों की संख्या न्यून ही रहती है और दुष्ट लोगों का बाहुल्य रहा करता है। ठीक उसी प्रकार जैसे प्रत्येक पर्वत पर मणि नहीं होती और हर हाथी में मोती नहीं होता। सज्जन लोग कहीं-कहीं केवल संयोगवश ही मिलते हैं।

पुत्राश्च विविधैः शीलैर्नियोज्याः सततं बुधैः।
नीतिज्ञाः शील सम्पन्ना भवन्ति कुलपूजिताः।। (10)

अर्थ—बुद्धिमानों का कर्तव्य होता है कि अपने पुत्रों को अनेक प्रकार के अच्छे नियोजन अर्थात् व्यापार में लगावें, क्योंकि नीति के जानकार और अच्छे स्वभाव वाले ही कुल में सम्मानित होते हैं।। (10)

भाव—बुद्धिमान अभिभावक सदैव अपने पुत्रों को व्यापार में ही लगाता है किसी की चाकरी में नहीं, क्योंकि व्यापार से जहाँ चाकरी की अपेक्षा

अधिक धन प्राप्त होता है वहीं अपना व्यापार होने से समाज में सम्मान और प्रभाव में वृद्धि भी होती है। स्वयं का व्यापार करने से योग्यता विकसित करने का पर्याप्त अवसर मिलता है, इस नीति को जानने वाला अपना अच्छा स्वभाव विकसित कर लेता है जिससे वह कुल का गौरव बनकर सम्मानित स्थिति में पहुँचता है।

माता रिपुः पिता शत्रुर्बालनों याभ्यां न पाठयते।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा।।(11)

अर्थ—वे माता और पिता शत्रु हैं जो अपने पुत्र को पढ़ाते नहीं। नहीं पढ़ाने के कारण वह बालक सभा के बीच में हंसों में कौए की तरह शोभा नहीं पाता। अर्थात् माता-पिता का कर्तव्य है कि वह अपने पुत्रों को पढ़ावें।। (11)

भाव—पुत्र के लिए शिक्षा अथवा पढ़ाई-लिखाई की अनिवार्यता यहाँ बताई गई है कि पुत्र को पढ़ाना माता-पिता का परम कर्तव्य है क्योंकि समाज में पढ़े-लिखे होने से उनका पुत्र सम्मान का पात्र बन सकेगा अन्यथा उसकी स्थिति समाज में ऐसी ही रहेगी जैसे हंसों के बीच में कौए की होती हैं। यदि माता-पिता अपने पुत्र को नहीं पढ़ाते तो निसन्देह वे उसके शत्रु हैं क्योंकि शिक्षा के अभाव में उनका पुत्र सदैव कष्ट भोगता रहेगा और समाज में उपहास और उपेक्षा का पात्र बनेगा। वस्तुतः शिक्षा से बड़ी सम्पत्ति अथवा धन कुछ भी नहीं हैं। यदि सन्तान को बढ़िया शिक्षा प्रदान करवा दी जाए तो इससे बड़ी सम्पत्ति सन्तान के लिए और कोई नहीं हो सकती। इसलिए यहाँ शिक्षा के महत्त्व को ही रेखांकित किया गया है।

लालनाद् बहवो दोषा स्ताऽनाद बहवो गुणा।
तस्मात्पुत्रञ्च शिष्यञ्च ताऽयेन्न तु लालयेत्।।(12)

अर्थ—अत्यन्त प्रेम से बहुत दोष तथा दण्ड (भय) होने से बहुत से गुण होते हैं। इसलिए पुत्र और विद्यार्थी को दण्ड देना ही उचित है, न कि अत्यन्त दुलार करना।। (12)

भाव—पुत्र या विद्यार्थी पर अतिशय प्रेम उसके निर्माण की जड़ें सुखाना ही है, क्योंकि इस प्रकार पुत्र या विद्यार्थी को मनमानी करने का अवसर मिलता है जो उसके स्वभाव का अंग बनकर उसे अयोग्य बना देता है। जबकि ताड़ना उसके सुधार की प्रक्रिया है, कठोरता, अनुशासन के लिए

आवश्यक है जिसके साचेंगे में ढला विद्यार्थी या पुत्र का व्यक्तित्व निखर उठता है। ठीक उसी प्रकार जैसे आग में तपने पर सोना कुन्दन बन जाता है। इसलिए दण्ड की नीति ही पुत्र और विद्यार्थी के लिए उचित है, अतिशय प्रेम में उसे मनमानी की छूट देना नहीं।

श्लोकेन वा तदर्धेन दतार्धार्धक्षिरेण वा।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद् दानाध्ययन कर्मभिः।। (13)

अर्थ—एक श्लोक अथवा आधा श्लोक या श्लोक का एक चरण या उसका आधा या एक अक्षर सही, किन्तु प्रतिदिन पढ़ना चाहिए। प्रत्येक का कर्तव्य है दान देना, पढ़ना आदि अच्छे कार्यों से सभी दिन सार्थक करे।। (13)

भाव—वेदों में चाणक्य के इस कथन को रेखांकित करते हुए समर्थन किया गया है और कहा गया है कि स्वाध्याय में कभी प्रमाद न किया जाए। सत्शास्त्रों का पढ़ना जीवन को सद्गुणों को सुगन्ध से भर देता है, भारत के आर्षग्रन्थों का थोड़ा-बहुत अध्ययन भी जीवन को कल्याणकारी दृष्टि व मार्गदर्शन प्रदान करता है, इसी कारण चाणक्य ने एक श्लोक, आधा श्लोक अथवा शास्त्र का एक अक्षर मात्र ही पढ़ना उस दिन की सार्थकता बताई है और दान देने के उपदेश के साथ ऐसे दिन को सार्थक बताया है।

कान्ताविओगः स्वजनापमानो ऋणस्य शेषः कुनृपस्य सेवा।
दरिद्र भावो विषमा सभा च विनाग्निमेते प्रदहन्ति कायम्।। (14)

अर्थ—स्त्री का वियोग, स्वजनों से अपमान, ऋण से बँधना, दुष्ट राजा की सेवा, दरिद्रता और अपने प्रतिकूल सभा, ये सब अग्नि न होते हुए भी शरीर को जला देते हैं। अर्थात् अत्यन्त दुःखदायी होते हैं।। (14)

भाव—स्त्री अर्थात् जीवन साथी का वियोग मनुष्य को तोड़कर रख देता है क्योंकि इस स्थिति में वह एकाकी हो जाता है। अपने वर्ग के लोगों से अपमानित होना या कर्ज़दारी होना ऐसी स्थितियां हैं जो कुंठित कर डालती हैं, दरिद्रता से बड़ा अभिशाप कोई नहीं होता और यदि जिस सभा में हमारी बात का समर्थन न हो, सब प्रतिकूल विचार रखते हों, वह निसन्देह मनुष्य को भीतर तक जला डालती है। दुष्ट शासक की सेवा से भी दुःखपूर्ण अवसर उपस्थित होते रहते हैं। ये स्थितियाँ मनुष्य को बहुत दुःख देती हैं।

नदी तीरे च ये वृक्षाः परगेहेषु कामिनी।
मन्त्रहीनाश्च राजानः शीघ्रं नश्यन्त्यसंशयम्।।(15)

अर्थ—नदी किनारे के वृक्ष, दूसरे के घर गई हुई या जाने वाली स्त्री, और मन्त्री के बिना राजा, ये शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं।। (15)

भाव—नदी के किनारे स्थित वृक्ष कभी भी नदी में बाढ़ आ जाने पर उसमें डूब सकते हैं या उखड़ कर नष्ट हो सकते हैं। यदि कोई स्त्री दूसरे के घर जाने वाली हो तो उसका मन अपने घर से उचटता चला जाएगा और ऐसे में वह किसी न किसी समय भटक जाने से पथभष्ट हो सकती है। इन दो उदाहरणों के माध्यम से चाणक्य उस राजा के विषय में इंगित करते हैं जिसे उचित परामर्श देने वाला मन्त्री उपलब्ध न हो। आशय यही है राज्य का सुचारु रूप से संचालन तभी हो सकता है जब शासक के पास मन्त्रणा के लिए योग्य मन्त्री हो। ऐसे योग्य मन्त्री के अभाव में राज्य का संचालन गड़बड़ा जाता है और शीघ्र ही वह राजा नष्ट हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं है।

बलं विद्या हि विप्राणां राजां सैन्यं बलं तथा।
बलं वित्तं च वैश्यानां शूद्राणां च कनिष्ठता।।(16)

अर्थ—ब्राह्मणों का बल विद्या, राजा का बल सेना, वैश्यों का बल धन और शूद्रों का बल छोटा (सेवा करना) बनकर रहना है।। (16)

भाव—विद्या-विहीन ब्राह्मण शक्तिहीन होता है क्योंकि विद्या के गुण से ही वह अपने ब्राह्मण धर्म का निर्वाह कर सकता है, राजा अर्थात् शासक का बल सेना होने का अर्थ है कि सेना के अभाव में उसके राजा होने की पहचान ही नष्ट हो जाएगी। वैश्य के पास धन न हो तो वह केवल नाम का वैश्य रह जाता है और शूद्र का बल उसकी सेवा है, सेवा के बिना वह भी बलहीन हो जाता है। तात्पर्य यह कि विद्या, सेना, धन तथा सेवा यह चारों वर्णों के प्रकृति द्वारा निर्धारित धर्म हैं। जब कोई वस्तु या व्यक्ति अपने धर्म को छोड़ दे तो उसे नष्ट जो जाना पड़ता है, जैसे जल अपनी शीतलता, तरलता त्याग दे तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा अथवा अग्नि अपने प्रकाश और उष्मा का बल दोड़ दे तो वह बलहीन होने से नष्ट हो जाएगी। इसलिए उपरोक्त ब्राह्मण, राजा, वैश्य तथा शूद्र अपने बल के कारण ही अस्तित्व में

रहते हैं अन्यथा इन का नष्ट होना निश्चित होता है।

निर्धनं पुरुषं वेश्या प्रजा भग्न नृपं त्यजेत्।
खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चाभ्यागतो गृहम।।(17)

अर्थ—वेश्या धनहीन पुरुष का त्याग कर देती है और प्रजा पराजित राजा को, चिड़िया बिना फल वाले पेड़ को और अतिथि भोजन के बाद घर को छोड़ देता है।। (17)

भाव—संसार का नियम ऐसा ही है कि प्रत्येक अपनी आवश्यकताओं के वश में है, उपयोगिता के आधार पर ही हर किसी का महत्त्व है। वेश्या के लिए किसी पुरुष का महत्त्व तभी तक है जब तक उसके पास धन है क्योंकि उसकी दृष्टि में धनवान पुरुष ही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण होता है; और प्रजावर्ग उसी राजा को अपनाती है जो सदैव विजयी रहता हो, हारे राजा को वह त्याग देती है क्योंकि प्रजा की दृष्टि में पराजित राजा उपयोगहीन और महत्त्वहीन हो जाता है। जिस वृक्ष (पेड़) पर फल न हों वहाँ चिड़िया नहीं रहती क्योंकि उसका कार्य फलदार वृक्ष से ही चलता है और अतिथि अपने भोजनादि स्वागत-सत्कार के बाद घर छोड़कर चल देता है। समाज में जब तक किसी की उपयोगिता है तभी तक उसे अपनाया जाता है इसी कड़वी सच्चाई को चाणक्य ने रेखांकित किया है।

गृहीत्वा दक्षिणां विप्रास्त्यजन्ति यजमानकम्।
प्राप्त विद्या गुरुं शिष्या दग्धारण्यं मृगास्तथा।।(18)

अर्थ—ऋत्विक ब्राह्मण दक्षिणा लेकर यजमान का विद्यार्थी विद्या पढ़ लेने पर गुरु को, हिरन जले वन को छोड़ देते हैं।। (18)

भाव—इस श्लोक का भाव भी पूर्व श्लेक के भावानुसार है, बस यहाँ यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण तथा यजमान, विद्यार्थी और गुरु तथा हिरन और जले वन के द्रष्टान्त का प्रयोग किया गया है। यहाँ भी परस्पर आदान-प्रदान के आधार पर होने वाली उपयोगिता का महत्त्व दर्शाया गया है जिसके बाद सम्पर्क का क्रम समाप्त हो जाता है।

दुराचारी दुरादृष्टिः दुरावासीच दुर्जनः।
यन्मैत्री क्रियते पुंसा स तु शीघ्रं विनश्यति।।(19)

अर्थ—बुरे आचरण वाले से, पाप दृष्टि रखने वाले से और खराब

स्थान में रहने वाले से जो मनुष्य मित्रता करता है वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।। (19)

भाव—कोई मनुष्य संगति के प्रभाव से बच नहीं सकता, उसका अच्छा/बुरा प्रभाव पड़कर ही रहता है। साथ ही उसके अच्छे-बुरे परिणाम भी सामने आते हैं। दुष्ट, चोर और पापी मनुष्य की संगति से भला पुरुष बिगड़े बिना नहीं रहता। इतना ही नहीं, यह भी हो सकता है कि चोर के दोस्त होने पर वह भी चोरी के दण्ड का पात्र बन जाए; चाहे वह निर्दोष ही क्यों न रहा हों। बुरे और दुष्टों के नष्ट होने की जहाँ पूरी सम्भावना रहती है वहीं उनके साथ रहने वाले भले और निर्दोष को नष्ट होना पड़ता है। अतः बुरी संगति से बचना चाहिए।

समाने शोभते प्रीतिः राज्ञि सेवा च शोभते।
वाणिज्यं व्यवहारेषु स्त्री दिव्या शोभते गृहे।। (20)

अर्थ—मित्रता बराबरी में अच्छी होती है, नौकरी राजा की अच्छी होती है और सुन्दर स्त्री की शोभा घर में होती है।। (20)

भाव—धन, सम्मान, योग्यता आदि में समान लोगों में ही मित्रता करना उचित है, अपने से नीचे या ऊँचे लोगों की मित्रता से अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आने लगती हैं। राजा की नौकरी से राज्य संरक्षण अनायास ही मिल जाता है। जबकि किसी सेठ की नौकरी से वैसा लाभ नहीं होता, सुन्दर स्त्री का घर से बाहर रहना घर की शोभा नष्ट करना है क्योंकि बाहर रहने से घर स्त्री के बिना सूना-सूना प्रतीत होता है, जब बाहर घूमने वाली स्त्री को भीड़ में शोभा नहीं मिलती, अतः उसकी शोभा घर में ही है।

तीसरा अध्याय

कस्य दोषः कुले नास्ति व्याधिना के न पीडिताः।
व्यसनं के न प्राप्तं कस्य सौख्यं निरन्तरम्।।(1)

अर्थ—दोष किसके कुल में नहीं है? कौन ऐसा है जिसे रोग ने नहीं सताया? दुःख किसने नहीं पाया? सदा सुखी कौन रहा है?।। (1)

भाव—संसार में किसी का कुल न तो पूरी तरह अच्छा होता है न पूरी तरह बुरा! यह भी सत्य है कि शरीर व्याधियों का मन्दिर है इसलिए हर किसी को रोग सता सकता है। यदि संसार में सुख है तो दुःख का भी अस्तित्व अवश्य होगा इसलिए सदा कोई भी सुखी नहीं रह सकता।

आचारः कुलमाख्याति देश माख्याति भाषणम्।
सम्भ्रमः स्नेहमाख्याति वपुराख्याति भाषणम्।।(2)

अर्थ—मनुष्य का आचार कुल को बताता है। भाषण (बोली) देश को, विशेष आदर प्रेम को और शरीर भोजन की बताता है।। (2)

भाव—जैसा कुल होता है वैसा ही मनुष्य में आचरण हुआ करता है क्योंकि मनुष्य को संस्कार स्वभाव तथा गुण अपने कुल से ही प्राप्त होते हैं, कुल में ही उसका पालन-पोषण होता है इस प्रकार उसका आचार बनता है, भाषण अर्थात् बोल-चाल किसी भी मनुष्य के बारे में बताती है कि वह किस देश या क्षेत्र का निवासी है, जहाँ पर मनुष्य को आदर-मान मिलता है वहाँ स्वयं ही यह सिद्ध हो जाता है कि उसके प्रति प्रेम है क्योंकि कि बिना प्रेम भावना के वास्तनिक आदर हो ही नहीं सकता। शारीरिक स्वास्थ्य यहाँ तक कि बनावट से भी यह अनुमान लगाया जा सकता है किस व्यक्ति का किस प्रकार का भोजन है।

सत्कुले योजये त्कन्या पुत्रं विद्यासु योजयेत्।
व्यसने योजयेच्छत्रुं मित्रं धर्मेण योजयेत।।(3)

अर्थ—पुत्री का सम्बन्ध (विवाह) श्रेष्ठ कुल में करना चाहिए। पुत्र को विद्या से सम्बन्ध कराना (पढ़ाना) चाहिए, दुश्मन को विपत्ति में डालना और मित्र को अच्छे काम में लगाना चाहिए।। (3)

भाव—बुद्धिमान, व्यावहारिक तथा नीति-निपुण व्यक्ति सदैव अपनी पुत्री का विवाह अच्छे कुल में करेगा और पुत्र को सुशिक्षित और सुयोग बनाने पर ध्यान देगा। ऐसे व्यक्ति में मित्र और शत्रु के प्रति भी सतर्क दृष्टि होती है। वह जहाँ शत्रु को सदैव विपत्तिग्रस्त बनाने में सचेष्ट रहता है वहीं मित्र को अच्छे कार्यों में लगाकर उसका हितसाधन किया करता है।

दुर्जनस्य च सर्पस्य वरं सर्पो न दुर्जनः।
सर्पा दशन्ति काले तु दुर्जनस्तु पदे पदे।।(4)

अर्थ—दुष्ट (चुगलखोर) और साँप—इनमें से साँप अच्छा है, क्योंकि साँप काल के आ जाने पर डसता है, परन्तु दुष्ट पग-पग पर कष्ट देता है।।(4)

भाव—चाणक्य के अनुसार दुष्ट व्यक्ति साँप से भी अधिक हानिकारक होता है क्योंकि साँप तो कभी-कभी ही किसी को डसता है लेकिन दुष्ट व्यक्ति चोरी, चुगली, झूठ, षड्यन्त्र आदि से पग-पग पर कष्ट पहुँचाता है। अर्थात् दुष्ट व्यक्ति की प्रकृति ही जानबूझकर दूसरों को संकट या कष्ट में डालने की होती है।

एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति संग्रहम्।
आदिमध्यावसानेषु न त्यजन्ति न ते नृपम्।।(5)

अर्थ—इसलिए राजा कुलीन लोगों का ही संग्रह करते हैं, क्योंकि कुलीन लोग आदि (अभ्युदय), मध्य (साधारण स्थिति), अन्त (विपत्ति) में भी अर्थात् किसी दशा में राजा को नहीं छोड़ते।। (5)

भाव—श्रेष्ठ कुल के लोग अर्थात् कुलीन लोगों में एक विशेष प्रकार का सैद्धान्तिक आग्रह रहा करता है और उनकी व्यावहारिकता भी उन्हीं सिद्धान्तों के साँचे में ढली होती है। जबकि कुलीन लोग सिद्धान्तों व आदर्शों को ताक पर रखने में देर नहीं लगाते इसीलिए चाणक्य के समय राजाओं का

कुलीन लोगों को अधिक से अधिक संख्या में अपने से जोड़ने का रहा करता था क्योंकि कुल की श्रेष्ठता के कारण स्वभावतः ही ऐसे लोग राजा के प्रति वफादार रहा करते थे। चाहे धनवान हों, निर्धन हों या किसी संकट में हों पर कुलीन लोग अपने कुल की मर्यादा व परम्परा पर दाग नहीं लगने देते और साथ निभाने में कभी पीछे नहीं हटते।

प्रलये भिन्नमर्यादा भवन्ति किल सागराः।
सागरा भेदमिच्छन्ति प्रलयेऽपि न साधवाः।।(6)

अर्थ—निश्चर्य ही प्रलय काल में समुद्र अपनी मर्यादा से नष्ट हो जाते हैं, परन्तु साधु लोग प्रलय काल में भी अपनी मर्यादा का नाश नहीं चाहते है न होने देते हैं।। (6)

भाग—साधु अर्थात् सत्पुरुषों का प्रथम गुण है मर्यादा! उनमें स्वाभाविक रूप से वाणी, आचरण व्यवहार आदि में मर्यादा परिलक्षित होती है। सच तो यह है कि मर्यादा ही सज्जन की पहचान होती है, उनके रक्त में मर्यादापूर्ण सज्जनोचित व्यवहार इस सीमा तक होता है कि चाहे समुद्र अपनी मर्यादा प्रलय काल में त्याग दे पर सज्जन अपनी सज्जनता नहीं त्यागता। वह अपनी अंतिम साँस तक अपनी मर्यादा की रक्षा को तत्पर रहता है और उसे नष्ट नहीं होने देता।

मूर्खस्तु परिहर्तव्यः प्रत्यक्षो द्विपदः पशुः
भिनत्ति वाक्यशल्ये निर्द्रशां कण्टको यथा।।(7)

अर्थ—मूर्ख से बचना चाहिए क्योंकि मूर्ख व्यक्ति शरीरधारी होते हुए भी देखने से दो पैर का पशु है और जैसे काँटे बिना आँख वाले को बेधते हैं, वैसे ही मूर्ख वचन रूपी बाण से बेधता है।। (7)

भाव—मूर्ख व्यक्ति का संग वास्तव में कष्टदायी तथा विपत्ति में डालने वाला हो सकता है। इसलिए चाणक्य उससे बचने का उपदेश करते हुए कहते हैं कि मूर्ख दो पैर का पशु है क्योंकि मनुष्य की पहचान तो उसकी बुद्धि से है और मूर्ख बुद्धिहीन को ही कहा जाता है अतः स्वाभाविक है कि वह बुद्धिहीन होने से पशु समान माना जाए। आँख का अंधा राह के काँटे नहीं देख पाता इस कारण उसे काँटे चुभते रहते हैं। इसी प्रकार मूर्ख भी जो जी में आता है बोलता रहता है क्योंकि बुद्धि के अभाव में उसका अपनी जीभ पर

नियंत्रण नहीं हो पाता और उसके वचन चुभते चले जाते हैं, अत: मूर्ख की संगत को त्यागना ही उचित है।

रूपयौवन सम्पन्ना विशालकुल सम्भवा:।
विद्याहीना च शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुका।। (8)

अर्थ—सुन्दर रूप युवावस्था से युक्त, बड़े कुल में उत्पन्न होते हुए भी विद्या रूपी ज्योति से रहित पुरुष, बिना सुगन्ध के फूल सरीखे शोभा (सम्मान) नहीं पाते।। (8)

भाव—किसी भी मनुष्य के जीवन में विद्या का असाधारण महत्त्व होता है क्योंकि सम्मानित जीवन के निर्माण में विद्या अर्थात् सुशिक्षा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, कितना ही कोई सुन्दर रूप को धन, यौवन और उच्चकुल से सम्पन्न क्यों न हो कि सुशिक्षित न होने से उसके व्यक्तित्व में अधूरापन रहता है यानी सुगन्ध रहित पुष्प की तरह वह शोभा रहित रह जाता है। तात्पर्य कि विद्वानों में अथवा बौद्धिक वर्ग में उसे सम्मान नहीं मिल पाता। इसलिए विद्या का अर्जन जीवन में नितान्त आवश्यक है।

कोकिलानां स्वरो रूपं स्त्रीणां रूपं पतिव्रतम्।
विद्या रूपं कुरूपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम।। (9)

अर्थ—कोयल का रूप (शोभा) सुन्दर स्वर है, स्त्रियों की शोभा पतिव्रत धर्म है, कुरूप की शोभा विद्या है, तपस्वियों का रूप (शोभा) क्षमा (सहनशीलता) है।

भाव—कोयल रंगरूप से काली होती है परन्तु उसका रूप उसके स्वर की मिठास है, वही उसका आकर्षण है क्योंकि उसके इस आकर्षण के समक्ष उसका काला रंग गौण हो जाता है। स्त्री की प्रतिबद्धता व धर्म यदि पति केन्द्रित है तो उसकी गरिमा से सभी आकर्षित हो उठते हैं, यह उसके पतिव्रत धर्म का चमत्कार होता है। ऐसे में यदि वह कुरूप भी हो तो उसका आकर्षण कम नहीं रहता। इसी प्रकार कुरूप व्यक्ति यदि असाधारण प्रतिभाशाली तथा विद्वान हो तो अपनी विद्या के कारण वह सबके आकर्षण का केन्द्र बनता है। तपस्वी के पास तप की शक्ति होती है, अपने प्रति अपराध करने वाले को अपने तपोबल से दण्डित भी कर सकता है पर उससे उसकी शोभा या प्रशंसा नहीं होगी, उसकी प्रशंसा तब होगी जब वह अपराध करने वाले को क्षमा कर

G.P.S. Library
Srinagar

देगा। सारांश यह है कि मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी उसका शरीर नहीं बल्कि उसके श्रेष्ठ व महान गुण होते हैं; क्योंकि गुण, महानता व योग्यता ही व्यक्ति को समग्र बनाते हैं।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।।(10)

अर्थ—किसी एक के त्याग से कुल की रक्षा होती हो तो कुल के लिए एक को छोड़ देना चाहिए। कुल की अपेक्षा पूरे गाँव की भलाई के लिए कुल को तथा देश के लिए गाँव को और अपने आत्म-सम्मान व हित के लिए सारी पृथिवी को छोड़ देना चाहिए।। (10)

भाव—व्यक्ति विशेष से कुल बड़ा है इसलिए कुल के लिए व्यक्ति विशेष को त्यागना चाहिए और कुल की अपेक्षा गाँव बड़ा होता है। उसकी रक्षा व हित के लिए कुल का त्याग करना कर्तव्य है, परन्तु देश के लिए गाँव भी त्याज्य होता है, और आत्म-सम्मान के लिए तो सारी पृथ्वी को त्याग देना चाहिए।

उद्योग नास्ति दारिद्र्यं जपतो नास्ति पातकम्।
मौने च कलहो नास्ति नास्ति जागरतो भयम्।।(11)

अर्थ—उद्योग करने पर दरिद्रता नहीं रहती। जप करने वाले का पाप नहीं रहता। चुप रहने पर लड़ाई-झगड़ा नहीं होता और जगे हुए के पास डर नहीं आता है।। (11)

भाव—सदैव किसी उद्यम में लगे रहने वाले उद्योगी पुरुष के पास दरिद्रता फटकती भी नहीं क्योंकि दरिद्रता निराश व अकर्मण्य लोगों के पास ही रहती है। ईश्वर के प्रति आस्था रखने वाला व्यक्ति जब जप करता है तो उसके पाप नष्ट होते हैं क्योंकि जप से आत्मशुद्धि के कारण उसकी पाप भावना नष्ट हो जाती है। लड़ाई-झगड़े की वृद्धि तभी होती है जब दोनों पक्षों में वाक्युद्ध लगातार जारी रहता हो, यदि एक पक्ष चुप हो जाए तो दूसरा पक्ष भी बोलते-बोलते थक कर चुप हो जाएगा। सदैव जागा हुआ अर्थात् सजग व्यक्ति भयभीत नहीं होता जबकि सोया अर्थात् लापरवाह व्यक्ति सदैव आशंकित और भयभीत होता रहता है।

अतिरूपेण वै सीता अतिगर्वेण रावणः।
अतिदानाद्बलिर्बद्धो ह्यति सर्वत्र वर्जयेत्।।(12)

अर्थ—अत्यन्त सुन्दर होने के कारण सीता का हरण हुआ, अत्यन्त घमण्ड के कारण रावण मारा गया, अत्यन्त दान से राजा बलि बाँधा गया। अतः किसी भी चीज की अति सबके लिए सब जगह निषेध है।। (12)

भाव—किसी भी कार्य, गुण आदि में यदि अति हो जाती है तो कष्ट और दुःख उठाना पड़ता है जैसे सीता माँ का अति सुन्दर होना उनके अपहरण का कारण बन गया। अतिशय अहंकार में विद्वान रावण कुकृत्य करता गया और वह राम के हाथों मारा गया। राजा बलि में दानशीलता की अति थी इसलिए वामन अवतार के रूप में भगवान ने उससे तीन पग भूमि माँगकर उसे बाँध लिया। इसलिए जीवन के कार्य-व्यवहारों में अति का समावेश वर्जित है क्योंकि उससे कभी-कभी विपरीत परिणाम भी सामने आ जाते हैं।

कोऽति भारः समर्थानां किं दूर व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सुविधानां कोऽप्रियः प्रियवादिनाम्।। (13)

अर्थ—समर्थों को किसी वस्तु का भार क्या है, अर्थात् कुछ नहीं, व्यवसायी के लिए कोई वस्तु या स्थान क्या दूर है, अच्छी विद्या वालों के लिए कौन स्थान परदेश है, अर्थात् सभी अपने हैं, मीठी बोली का शत्रु कौन है! अर्थात् कोई नहीं।। (13)

भाव—जिसके पास सामर्थ्य अर्थात् धन, बल, सांख्यवल, शरीर बल है उसके लिए कोई भी कार्य करना सुगम है जबकि बल सामर्थ्य से हीन व्यक्ति के लिए वही कार्य बोझ जैसे लगते हैं। व्यवसायी व्यक्ति हर वस्तु और स्थान से लाभ उठा सकता है, उसकी पहुँच से कोई वस्तु या स्थान दूर नहीं होता। इसीलिए व्यापारियों का लेन-देन दूर-दूर से होता रहता है। विद्यावान व्यक्ति अपनी विद्या के बल पर सभी को अपना बना लेता है। वह घर से दूर भी हो तो भी उसे श्रद्धालु परिकर के कारण इस दूरी का आभास नहीं होता, मधुर वाणी में बात करने वाला सबको अपना मित्र बना लेता है इसलिए उसका कोई शत्रु ही नहीं होता, अर्थात् सामर्थ्यवान बनने के लिए उद्यमशील, श्रेष्ठ विद्या व मधुर वाणी का गुण विकसित करना चाहिए।

एकेनापि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धीना।
वासितं स्यादवनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा।। (14)

अर्थ—एक भी सुगन्धित फूल वाले वृक्ष से वन सुगन्धित हो जाता है, जैसे अच्छे पुत्र से कुल।। (14)

भाव—कुल में एक पुत्र भी सुयोग्य, सुशील, आचार सम्पन्न पैदा हो जाए तो वह एक पुत्र ही कुल की ख्याति बढ़ा देता है जैसे एक फूल वाला पेड़ सारे जंगल को सुगन्ध से भर सकता है।

एकेन शुष्क वृक्षेण दह्यमानेन वह्निना।
दह्यते तद्वनं सर्वं कुलं यथा।। (15)

अर्थ—आग से जलते हुए एक ही सूखे पेड़ से वह सारा वन जल जाता है जैसे कि एक कुपुत्र से कुल, अर्थात् कुपुत्र कुल के नाश के लिए होता है।। (15)

भाव—यदि पुत्र पतनगामी हो जाए तो उसके साथ सारा कुल पतन को प्राप्त हो जाता हैं, जैसे श्रेष्ठ कुल में पैदा हुए रावण ने सारे कुल का नाश करवा दिया था तथा जैसे वन में एक सूखा वृक्ष जलने पर सारे वन को जला देता है उसी प्रकार कुपुत्र भी सिर्फ अपने लिए ही नहीं वरन् कुल के लिए भी घातक सिद्ध होता है।

एकेनापि सुपुत्रेण विद्या युक्तेन साधुना।
आह्लादितं कुलं सर्वं यथा चन्द्रेण शर्वरी।। (16)

अर्थ—जैसे चन्द्रमा से रात्रि की शोभा होती है वैसे ही साधु (सुन्दर स्वभाव वाले) विद्वान से, सुपुत्र से उसका सम्पूर्ण कुल आनन्दित हो जाता हैं।। (16)

भाव—पूर्णिमा के दिन आकाश में खिले हुए चाँद को देखकर हर किसी का मन आनन्दित न शीतल हो उठता है, ठीक इसी प्रकार जब कुल में कोई गुणवान, यशस्वी, सज्जन विद्वान सुपुत्र पैदा होता है तो उसके माता-पिता, सगे-सम्बन्धी उस पर गर्व किए बिना नहीं रहते। तात्पर्य यह कि कुल में यदि एक ही बालक श्रेष्ठ हो तो वही कुल की यश कीर्ति व आनन्द को बढ़ा सकता है, इसलिए अपने एक ही पुत्र में बाल्यकाल से ही श्रेष्ठ संस्कारों की विकसित किए जाने का प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

किं जातैर्बहुभिः पुत्रैः शोकसन्तापकारकैः।
वरमेकः कुलालम्बी यत्र विश्राम्यते कुलम्।। (17)

अर्थ—शोक, दुःख पैदा करने वाले बहुत से पुत्रों के पैदा होने से क्या? कुल को आश्रय देने वाला एक ही पुत्र उत्तम है।। (7)

भाव--प्रायः धारणा रहती है कि परिवार में अधिक से अधिक पुत्र होंगे तो सुख मिलेगा, परन्तु यहाँ चाणक्य का कथन है कि वे अधिक पुत्र शोक तथा दुःख पहुँचाने वाले हों तो क्या लाभ? आवश्यक नहीं कि वे माता-पिता को आश्रर्य देने वाले ही निकलें। वर्तमान में तो यह सत्य स्पष्ट दिखाई देता है कि पुत्र माता-पिता को घर से निकाल देते हैं! ऐसे में पुत्रों की संख्या के स्थान पर श्रेष्ठ संतति पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इसके बिना परिवार संस्था की उपयोगिता ही संकट में पड़ जाती है। पुत्रों के भीतर आरम्भ से ही भारतीय संस्कृति के अनुरूप गुण विकसित किए जाएँ तो आज भी परिवार स्वर्ग बन सकते हैं।

लालयेत्पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ति तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रमिवा चरेत्।। (18)

अर्थ—पुत्र को पाँच वर्ष तक प्यार करे, उसके बाद दस वर्ष (पन्द्रह वर्ष की अवस्था तक) उसे दण्ड आदि देते हुए श्रेष्ठ कार्यों में लगाए रखे, किन्तु सोलहवाँ वर्ष आ जाने पर उससे मित्र-सा व्यवहार करे।। (18)

भाव—चाणक्य पुत्र में श्रेष्ठ व्यक्तित्व विकसित करने के लिए यहाँ बड़ी सुन्दर युक्ति प्रस्तुत कर रहे हैं जिसे अभिभावकों को सदैव ध्यान में रखना अनिवार्य है। चाणक्य के अनुसार बालक (पुत्र) से पाँच वर्ष की आयु तक खूब लाड़-प्यार करना चाहिए। उसके पश्चात दस वर्ष से लेकर पन्द्रह वर्ष की आयु तक उसके प्रति कठोरता व दण्ड की नीति को अपनाया जाए क्योंकि उस समय पुत्र कच्चा बाँस होता है जिसे बलपूर्वक उचित दिशा में मोड़ा जा सकता है। फिर जब वह सोलहवें वर्ष में प्रवेश करे तो उससे मित्र जैसा व्यवहार करना उचित है। वास्तव में इस पद्धति के अनुसार पुत्र को श्रेष्ठ संस्कार, विद्या व सद्गुण सम्पन्न व्यक्तित्व में ढाला जा सकता है।

उपसर्गेऽन्यचक्रे च दुर्भिक्षे च भयावहे।
असाधुजन संसर्गे यः पलायति स जीवति।। (19)

अर्थ—भयंकर उपद्रव के समय, शत्रु के आक्रमण के समय, भयावह अकाल के समय, दुष्ट का साथ होने पर जो भाग जाता है वही जीवित रहता हैं।। (19)

भाव—किसी भी प्रकार के उपद्रवों का समय हो उसमें प्राणसंकट से बचना ही श्रेयस्कर होता है, प्राकृतिक उत्पात जैसे अकाल, बाढ़, अथवा अराजकता की स्थिति में उस स्थान को छोड़ना ही उचित है, साथ ही यदि कोई दुष्ट व्यक्ति से संसर्ग है तो उससे दूर हो जाने से भी प्राण रक्षा के समान है, क्योंकि दुष्ट का साथ करने से भी दैवी आपदा व अकाल जैसी मृत्यु सम्भावना वाली स्थिति आ सकती है।

धर्मार्थ काममोक्षेषु यस्यैकोऽपि न विद्यते।
जन्मजन्मनि मर्त्येषु मरणं तस्य न केवलम्।। (20)

अर्थ—जिनके पास धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनमें से एक भी नहीं है, मनुष्यों में उसके अनेक जन्म लेने का फल केवल मरण ही है।। (20)

भाव—चाणक्य की दृष्टि में जीवन पुरुषार्थ करने को मिला है और पुरुषार्थ चार प्रकार के बताए गए हैं, जो हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष! यदि कोई मनुष्य धर्म का अर्जन करता है और उस पर चलता है तो वह पुरुषार्थी है, अर्थ यानि धन कमाना भी तथा अपनी श्रेष्ठ कामना की पूर्ति यदि इस दिशा में भी वह उपलब्धि प्राप्त करे तो भी उसका जीवन सार्थक है, मोक्ष तो परम व अन्तिम पुरुषार्थ है। इसका तो महत्त्व भी परम है। किन्तु इन चारों पुरुषार्थों में से यदि कोई मनुष्य कोरा रहे तो उसका जीवन केवल जन्मने के बाद मृत्यु यात्रा के समान है, अत: चाणक्य का कहना है, स्वार्थ और परमार्थ दोनों का जीवन में समावेश होना चाहिए।

मूर्खा: यत्र न पूज्यन्ते धान्यं यत्र सुसञ्चितम्।
दाम्पत्ये कलहो नास्ति श्रीः स्वयभागता।। (21)

अर्थ—जहाँ मूर्खों का सम्मान नहीं होता, अन्न एकत्र करके सुरक्षित रहता हैं तथा स्त्री-पुरुष में झगड़ा नहीं होता, वहाँ लक्ष्मी स्वयं आती है।। (21)

भाव—बुद्धिहीन व अदूरदर्शी समाज में सदैव मूर्ख लोग सम्मानित रहते हैं क्योंकि मूल्यांकन करने वाले लोग वहाँ होते ही नहीं। जहाँ भी ऐसा हो

वहाँ आर्थिक समृद्धि नहीं होती, यदि होती भी है तो कलह के कारण नष्ट हो जाती है और अन्न का अभाव हो जाता है, स्त्री-पुरुष परस्पर झगड़ते ही नजर आते हैं, किन्तु यदि वहाँ विज्ञ अर्थात विद्वान् लोगों की बढ़त हो तो मूर्खों का सम्मान बन्द हो जाता है, अन्न के भण्डार भर जाते हैं, स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के पूरक बनते हैं, ऐसे में आर्थिक समृद्धि के रूप में वहाँ लक्ष्मी जी का पदार्पण सहज ही हो जाता है। चाणक्य का यह तथ्य परिवार, समाज तथा राष्ट्र सभी पर लागू होता हैं, साथ ही उपादेय भी है।

चौथा अध्याय

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतानि हि सृजयन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः।।(1)

अर्थ—यह निश्चय है कि शरीरधारी जीव के गर्भावस्था में ही आयु, कर्म, धन, विद्या, मृत्यु—इन पाँचों की सृष्टि साथ ही हो जाती है।। (1)

भाव—माता के गर्भ में रहने वाले शिशु के संस्कार उसकी उसी गर्भावस्था से अर्जित होना शुरू हो जाते हैं, उस समय जो भी पारिवारिक वातावरण गर्भवती स्त्री को मिलता है, उसी के अनुरूप शिशु की भी स्थिति बनती है, स्त्री जो भी खाती है उसी वस्तु के अनुसार शिशु में बल, आरोग्य व स्वास्थ्य को नींव पड़ती है, स्त्री जो भी कर्म करती है वैसे ही भाव गर्भस्थ शिशु ग्रहण करता है जिस में उसके धन, विद्या व मृत्यु तक का भविष्य निर्मित हो जाता है। इसीलिए भारतीय परम्परा में षोडश संस्कारों के अन्तर्गत 'पुंसवन संस्कार' का विधान है जो गर्भस्थ शिशु को सुयोग, संस्कारवान बनाने के लिए नियत किया गया था।

साधुभ्यस्ते निवर्तन्ते पुत्रा मित्राणि बान्धवा।
ये च तैः सह गन्तारस्तद्धर्मा सुकृतं कुलम्।।(2)

अर्थ—साधु-महात्माओं के संसर्ग से पुत्र, मित्र, बन्धु और जो उनके पीछे चलने वाले हैं वे सांसारिक वृत्तियों से निवृत्त हो जाते हैं तथा उनके सत्कर्मों से उनका कुल उज्ज्वल हो जाता है।। (2)

भाव—चिन्तन, चरित्र व व्यवहार को साध लेने वाले साधु होते हैं और महानता के पथ के पथिक महात्मा! इनके सम्पर्क का प्रभाव सभी पर पड़ता हैं जिससे सभी भौतिक जगत के आकर्षण में नहीं फँसते बल्कि वे परमार्थ कार्यों में लग जाते हैं जिससे चाहे पुत्र हो, या मित्र हो, उनके कुल पवित्र हो

जाते हैं।

दर्शन ध्यान संस्पर्शर्मत्सी कूर्मी च पक्षिणी।
शिशुं पालयते नित्यं तथा सज्जन संगतिः।।(3)

अर्थ—जैसे मछली, कछुई, चिड़िया देख-रेख से (निरन्तर ध्यान से), स्पर्श (चोंच या शरीर) से सदा अपने बच्चों का पालन-पोषण करती है वैसे ही अच्छे लोगों का साथ हर तरह से रक्षा के लिए ही होता है।। (3)

भाव—भले लोग अपने साथ वालों को कभी-कभी चुभती बातें भी हित की दृष्टि से कहते हैं, यदि कोई कुमार्ग के पथ से बचाने के लिए कुछ तीखा भी कह कर रोका जाए तो वह एक प्रकार से हमारी रक्षा का ही प्रयास है, ठीक ऐसे ही जैसे चिड़िया अपने बच्चे को चोंच मारकर तथा मछली व कछुई अपने स्पर्श द्वारा रक्षा करती हैं, ऐसे ही अच्छे लोग भी अपने साथ वालों के साथ रक्षा का व्यवहार करते हुए संकट के मार्ग से हर प्रकार रक्षा किया करते हैं।

यावत्स्वस्थो ह्ययं देहो यावन्मृत्युश्च दूरतः।
तावदात्महितं कुर्यात्प्राणान्ते किं करिष्यति।।(4)

अर्थ—जब तक यह शरीर स्वस्थ है, निरोगी है तथा जब तक मृत्यु नहीं आती उसके पहले ही मनुष्य को अपना कल्याण (पुण्य का अर्जन आदि श्रेष्ठ कार्य) कर लेना चाहिए, क्योंकि प्राण के अन्त में क्या करेगा?

भाव—अपने कल्याण से यहाँ चाणक्य का अर्थ है, आत्म-साक्षात्कार, यानि स्वयं को जान लेना! वास्तव में जीवन का उद्देश्य भी यही है और इसके लिए प्रयास मृत्यु से पूर्व स्वस्थ व निरोगी शरीर में ही सम्पन्न किए जा सकते हैं, पर मृत्यु तक पहुँचते हुए शरीर क्षीण होने लगता है और जीवन के प्रति उकताहट सी होना शुरू हो जाती है, यदि समय रहते जीवन उद्देश्य को पूरा कर लिया जाए तो मृत्यु तथा उसके भय से भी मुक्ति पाई जा सकती है, मगर ऐन मृत्यु के समय कुछ भी कर पाना इसलिए सम्भव नहीं रहता क्योंकि जीवन-भर जिन कार्यों का अभ्यास किया होता है वह मृत्यु के समय कल्याणकारी विचारों को रोक लेते हैं, इसलिए उस समय कुछ भी नहीं किया जा सकता!

कामधेनु गुणा विद्या ह्यकालफलदायिनी।
प्रवासे मातृ सद्रशी विद्या गुप्त धनं स्मृतम्।।(5)

अर्थ—विद्या कामधेनु के समान गुण वाली है क्योंकि विद्यारूपी कामधेनु हर इच्छा को पूर्ण करती है, विद्या सदा सुफल देती है, जैसे सभी फल अपने-अपने समय पर फूलते-फलते हैं, परन्तु विद्या सदा फल देती है, परदेश में माता की तरह रक्षिका हैं। विद्वानों ने विद्या को गुप्त धन कहा है।।(5)

भाव—चाणक्य के अनुसार मनुष्य के लिए विद्या प्राप्त करना नितांत अनिवार्य है क्योंकि विद्या के द्वारा हर इच्छा को मनुष्य पूर्ण कर सकता है ठीक उसी प्रकार जैसे काधेनु से जो इच्छा की जाए वही पूर्ण होती है। विद्या का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए चाणक्य दृष्टान्त देते हैं—फल अपना समय आने पर ही पकता और उपभोग के योग्य होता है, परन्तु विद्या से तो हाथोंहाथ फल मिलता है, यदि परदेश में कोई चला जाए तो वहाँ विद्या के बल पर वह अपनी आर्थिक सुरक्षा व अन्य व्यवस्थाएँ कर सकता है। वहाँ विद्या ही माँ के समान उसकी रक्षा करने लगती है। विद्या के इसी महत्त्व के कारण विद्वानों ने इसे गुप्त धन कहा है क्योंकि गुप्त धन को न कोई छीन सकता है न कोई जान सकता है।

एकोऽपि गुणवानपुत्रो निर्गुणैश्च शतैर्वरः।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारा सहस्त्रशः।। (6)

अर्थ—एक गुणी पुत्र अच्छा है, सैकड़ों मूर्ख पुत्रों से क्या है? एक ही चन्द्रमा अंधकार को दूर करता है न कि हजारों तारागण!

भाव—किसी मनुष्य के अनेक मूर्ख पुत्र पैदा हो जाएँ तो उसे जीते जी ही नरक भोगना पड़ता है—सन्तान के रूप में एक श्रेष्ठ पुत्र हो तो वही घर स्वर्ग बन जाता है। चाणक्य का आशय यहाँ सन्तान में गुण, कर्म, स्वभाव से है, क्योंकि रात्रि के अंधकार को दूर करने के लिए एक चन्द्रमा पर्याप्त होता है जबकि अमावस्या में असख्य तारे मिलकर भी अंधकार दूर नहीं कर पाते। अतः कुल को उज्ज्वल, शीतल व आनन्दित करने के लिए एक ही गुणवान पुत्र पर्याप्त है, वही पूरे परिवार व कुल को धन्य कर देता है।

मूर्खाश्चिरायुर्जातोऽपि तस्माज्जात मृतो वरः।
मृतस्तु चाल्पदुःखाय यावज्जीवं जडो दहेत्।। (7)

अर्थ—अधिक आयु वाले मूर्ख पुत्र की अपेक्षा पैदा होता ही जो मर गया वह अच्छा है, क्योंकि मरा हुआ तो थोड़े समय कष्ट देता है, परन्तु मूर्ख तो जन्म भर जलाता है।। (7)

भाव—माता-पिता के लिए मूर्ख पुत्र बड़ा कष्टदायी होता है, उसके कारण माता-पिता का समूचा परिवार आशंकित रहता है कि न जाने वह कब कौन-सी विपत्ति की रचना कर दे, यदि ऐसा पुत्र जन्मते ही मृत्यु पा जाए तो माँ-बाप को थोड़े समय तक उसका शोक सताता है किन्तु यदि मूर्ख पुत्र की आयु लम्बी हो तो माता-पिता को सदैव संत्रास भुगतना पड़ता है। सचमुच मूर्ख पुत्र की प्राप्ति अभिभावक के लिए अभिशाप होती है।

कुग्रामवासः कुलहीन सेवा कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या।
पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या विनाऽग्निनाषट प्रदहन्ति कायम।। (8)

अर्थ—बुरे गाँव का वास, नीच कुल की सेवा, बुरा भोजन, झगड़ालू स्त्री, मूर्ख पुत्र, विधवा पुत्री—ये छह बिना आग के ही शरीर को जला देते हैं।

भाव—मनुष्य जीवन में चाणक्य के मत से छह स्थितियाँ आग के समान दाह कारक होती हैं जिनमें प्रथम है किसी बुरे ग्राम में रहना। यदि अवांछनीय तत्त्वों के स्थान अथवा गाँव में कोई निवास करता है तो उसका पल-पल भय, कष्ट और अपमान भरे खून के घूँट पीकर बीतेगा क्योंकि उस गाँव के बुरे लोग उस व्यक्ति से अकारण बैर रखते हुए उसे सदैव सताते रहेंगे और वह प्रतिकार न करने की स्थिति में जलता घुटता रहेगा। यही स्थिति किसी निम्न मानासिकता वाले कुल की सेवा, नौकरी-चाकरी में होती है। नीच अपनी नीच मानसिकता का परिचय देते हुए अकारण ही कष्ट पहुँचाता हैं, झगड़ालू स्त्री भी मानसिक संताप देती है और मूर्ख पुत्र भी। दुर्भाग्य से यदि पुत्री विधवा हो जाए तो लोगों के ताने सुनकर भी मन छलनी हुआ करता है। अतएव यह छहों स्थिति आग के समान जलाने वाली सिद्ध होती हैं।

किं तया क्रियते धेन्वा या न दोग्धीन गर्भिणी।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान न भक्ति मान।। (9)

अर्थ—उस गाय से क्या लाभ जो न बच्चा जने और न दूध ही दे? ऐसे

पुत्र के पैदा होने से क्या जो न तो विद्वान हो न ईश्वर का भक्त हो।। (9)

भाव—किसी का भी पुत्र प्रतिभाशाली, विद्वान अथवा ईश्वर-भक्त होना चाणक्य के मतानुसार बहुत अनिवार्य है, यहाँ उनका आशय है कि पुत्र सन्तति में अनास्था व नास्तिकता नहीं होनी चाहिए क्योंकि ईश्वर को न मानने वाला भक्तिहीन पुत्र स्वेच्छचारी बनकर देश और समाज के लिए उपयोगी नहीं होता। कम से कम वह विद्वान हो तथा भारत के आर्षग्रन्थों के विषय में गहन जानकारी रखने वाला हो। यदि ऐसा नहीं है तो ऐसे पुत्र के पैदा होने से कोई लाभ नहीं। वह पुत्र तो ऐसी गाय के समान है जो न तो बच्चा देती है और न उससे दूध प्राप्त होता है, गाय की उपयोगिता उसके दूध देने से ही बनती हैं और पुत्र की उपयोगिता उसके विद्वान व्यक्तित्व तथा ईश्वर के प्रति आस्थावान भक्त के होने से ही मानी जा सकती है।

संसार तापदग्धानां त्रयो विश्रान्ति हेतवः।
अपत्यञ्च कलत्रञ्च सतां संगतिरेव च।।(10)

अर्थ--सांसारिक दुखों से तप्त हुए लोगों के विश्राम (शान्ति) मिलने के कारण तीन हैं—पुत्र, स्त्री एवं सज्जनों का संग।। (10)

भाव—यदि जीवन में सम्पर्क का निकटवर्ती क्षेत्र जिसमें पुत्र, स्त्री तथा साथी-मित्र आते हैं, ठीक हैं तो जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत होता है। हर किसी का अन्तिम आश्रय घर होता है जहाँ पुत्र व स्त्री होते हैं। यदि पुत्र आज्ञाकारी तथा आदर करने वाला है और स्त्री सेवापरायण, सशील व विनम्र है तो व्यक्ति के लिए वह घर विश्रान्ति का सबसे बड़ा आश्रय होगा अन्यथा नहीं। इसके बाद संगति वाले लोग यदि सज्जन हैं तो सोने में सुहागा वाली बात होगी, ऐसी स्थिति में संसार से कितना ही दुःख मिले घर आकर और अपने सज्जन इष्ट मित्रों के बीच वह सब ताप भूल जाएगा।

सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति पंडिताः।
सकृत्कन्या प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत्सकृत्।।(11)

अर्थ—राजा लोग एक ही बार बोलते हैं, पंडित लोग एक ही बार बोलते हैं, कन्याएँ एक ही बार दी जाती हैं, ये तीनों एक ही बार होते हैं, अर्थात् इनमें विशेष महत्त्व है।। (11)

भाव—राज सत्ता का मुखिया एक बार बोलता है क्योंकि अधिक

बोलने से उसकी गरिमा गिर जाती है। निश्चय है जीभ पर नियंत्रण न होने से वह राज्य के भेद भी उगल दे। यही स्थिति पंडित अर्थात् प्रबुद्ध व्यक्ति की भी है। उसका एक ही शब्द महत्त्वपूर्ण होता है और मार्गदर्शन करता है। शासक तथा प्रबुद्ध व्यक्ति का एक बार ही बोलना या नपी-तुली बात करना शोभनीय है। यहाँ कन्या को एक ही बार दिए जाने का अभिप्राय यही है कि उसके बाद पति का घर ही कन्या का घर हो जाता है, कन्या का पिता उसे एक बार जिस वर को प्रदान कर दे उसके बाद कन्या को अपने उसी घर को सँवारना कर्तव्य हो जाता है। विडम्बना है कि वर्तमान में कन्याएँ घर छोड़कर वापस मायके आ जाती हैं और उनके दूसरे विवाह भी हो जाते हैं। चाणक्य का कथन परिवार संस्था को अटूट बनाए रखने का ही संकेत है।

एकाकिना तपो द्वाभ्यां पठनं गायनं त्रिभिः।
चतुर्भिर्गमनं क्षेत्रं पञ्चभिर्बहुभी रणम्।।(12)

अर्थ—अकेले में तप, पढ़ना दो के साथ, गाना तीन के साथ, यात्रा चार के साथ, खेती-बाड़ी पाँच के साथ, युद्ध बहुत सहायकों के साथ उत्तम होता है।।(12)

भाव—चाणक्य ने एकान्त में तप करना इसलिए उत्तम बताया है क्योंकि एकान्त में तप में तप के दौरान विक्षेप नहीं आते और काम, क्रोध आदि के अवसर कम होते हैं किन्तु पढ़ाई में अकेले के बजाय यदि दूसरा भी साथ हो, अनुशासन की भावना दोनों में बनी रहेगी अन्यथा अकेले पढ़ने से मन जल्दी ऊब जाएगा। तीन का मिलकर गाना सरस हो जाता है। यदि किसी का कंठ खराब भी हो तो दूसरों के स्वर में मिलने से किसी को पता नहीं चलता। यात्रा में चार का होना उत्तम है क्योंकि संयोग से कोई यात्रा में बीमार हो जाए तो तीन उसकी देखरेख कर सकते हैं। खेती का कार्य व्यापक तथा परिश्रम वाला है इसलिए इसमें पाँच व्यक्तियों का परस्पर सहयोग बहुत आवश्यक है अन्यथा कई कार्य छूटे रह जाते हैं। युद्ध की सफलता के लिए अनेक सहयोगी होने से ही बात बनती है, सीमित सहायक संख्या होने से मुँह की खाने की स्थिति आ सकती है।

सा भार्या या सुचिर्दक्षा सा भार्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पति प्रीता सा भार्या सत्यवादिनी।।(13)

अर्थ—भरण-पोषण करने योग्य पत्नी वही है जो पवित्र और चतुर है, जो पतिव्रता है, जिस पर पति प्रसन्न रहे, और जो सच बोलती है।। (13)

भाव—पति और पत्नी परस्पर पूरक हैं। पति का कर्तव्य है कि वह अपनी पत्नी का भरण-पोषण करे और उसकी सुरक्षा करे। चाणक्य का मत है—पवित्र, चतुर पतिव्रता, पति को प्रसन्न रखने वाली और पति से कभी झूठ न बोलने वाली पत्नी ही इस अधिकार की पात्र है न कि गन्दी, मूर्ख, पति से द्रोह रखने वाली और दुःख देने वाली झूठी! परिवार में सुख-शान्ति के लिए पत्नी में उपरोक्त गुण अनिवार्य हैं।

अपुत्रस्य गृहं शून्यं दिशः शून्यास्त्व बान्धवाः।
मूर्खस्य हृदयं शून्यं सर्वशून्यं दरिद्रता।। (14)

अर्थ—बिना पुत्र के घर सूना है, बिना बन्धु-बान्धवों के दिशाएँ सूनी हैं, मूर्ख का हृदय सूना है, दरिद्रों को सब कुछ सूना है।। (14)

भाव—जीवन में दरिद्रता बहुत बड़ा अभिशाप है। जैसे पुत्र के बिना सम्पन्नता के बावजूद घर सूना लगता है और सगे-सम्बन्धी, इष्ट मित्रों के बिना दिशाएँ, वैसे ही दरिद्रता से मनुष्य का सारा जीवन एक शून्य बनकर रह जाता है। मूर्ख के हृदय में जैसे सूनापन रसहीनता और रिक्तता बना देता है ऐसे ही दरिद्र व्यक्ति के लिए हर स्थान, अपना जीवन सूना तथा बोझ बन जाता है।

अनभ्यासे विषं शास्त्रमजीर्णे भोजनं विषम्।
दरिद्रस्य विषं गोष्ठी वृद्धस्य तरुणी विषम्।। (15)

अर्थ—निरन्तर न पढ़ने से या भूल जाने से विद्या विष हो जाती है, बिना पचा भोजन, दरिद्र के लिए सज्जनों की सभा और वृद्धों के लिए युवती स्त्री विष-सी हो जाती है।। (15)

भाव—पठन-पाठन में यदि निरन्तरता समाप्त हो जाए तो जो भी जाना-समझा गया है वह ध्यान से उतर जाता है जिससे ज्ञान में अधकचरापन होने से व्यक्तित्व विकृत हो उठता है क्योंकि अधकचरे ज्ञान वाला अहंकारी जो जाता है जो विष के समान होता है, बिना पचा भोजन पेट को खराब तथा रोगी बनाता है इसलिए वह विष के समान ही है। दरिद्र व्यक्ति के लिए सज्जनों की सभा में जाना जानबूझकर अपनी उपेक्षा करना है और उपेक्षा से दरिद्र

व्यक्ति के मन में सहज ही कड़वाहट पैदा होगी जो उसके लिए विष का काम करेगी। यदि कोई बूढ़ा किसी युवती से विवाह कर ले तो समाज के व्यंग्य उसे चैन नहीं लेने देंगे, साथ ही युवती भी उससे मन ही मन घृणा करेगी और स्वेच्छाचार के रास्ते पर जाते देर नहीं लगाएगी। इस प्रकार वृद्ध के लिए युवती वास्तव में विष की पुड़िया सिद्ध होती है।

त्यजेद्धर्मं दयाहीनं विद्याहीनं गुरुं त्यजेत्।
त्यजेत्क्रोधमुखीं भार्यां निः स्नेहान्बां धवांस्त्यजेत्।।(16)

अर्थ—जिस धर्म में दया नहीं, ऐसे धर्म को छोड़ देना चाहिए, विद्याहीन गुरु को छोड़ देना चाहिए, झगड़ालू स्त्री को छोड़ देना चाहिए, प्रेम रहित बन्धुओं को छोड़ देना चाहिए। (16)

भाव—दया एक मानवीय गुण है और स्वयं में ही एक धर्म भी! यदि धर्म में सृष्टि के जीवों, मनुष्यों के प्रति करुणा व दया को स्थान नहीं है तो वह मानवता के विरुद्ध है और धर्म का केवल मुखौटा है, ऐसे धर्म को त्यागना ही उचित है। विद्या के बल पर ही गुरु का अस्तित्व है। यदि वह विद्याहीन है तो ऐसे कथित गुरु को त्यागना ही चाहिए। झगड़ालू स्त्री को छोड़ देना श्रेयस्कार है क्योंकि बात-बात पर झगड़ा करने वाली स्त्री से घर को नरक बनाना बुद्धिमानी नहीं कहलाती है। रूखे तथा स्नेह रहित बंधु-बांधव केवल नाम के ही सगे होते हैं और उनसे सम्बन्ध भी खोखले रहते हैं, यदि उन्हें अपनाए रखा जाएगा तो पग-पग पर मन को आहत होना पड़ेगा। समाज में आज ऐसे ही रिश्तेदार आदि बढ़ रहे हैं जिन्हें ढोते जाने की मूर्खता भी चल रही है। चाणक्य ने स्पष्ट शब्दों में ऐसे बन्धुओं को त्याग देने की सम्मति दी है।

अध्वा जरा मनुष्याणां वाजिनां बन्धनं जरा।
अमैथुनं जरा स्त्रीणां वस्त्राणामातमो जरा।।(17)

अर्थ—बहुत रास्ता चलना मनुष्यों को बुढ़ापा ला देता है, घोड़ों को एक जगह बाँधे रखना और स्त्रियों को पुरुष का समागम न होना और वस्त्रों को धूप में सुखाना बुढ़ापा लाता है।। (17)

भाव—बहुत रास्ता चलने से शारीरिक शक्ति का क्षय होता है। इस कारण दुर्बलतावश मनुष्य समय से पूर्व बूढ़ा हो जाता है। घोड़े भी एक जगह

बँधे-बँधे बेकार हो बुढ़ाए से होते हैं। जो स्त्री विवाह नहीं करती वह भी चिन्तावश बूढ़ी लगने लगती है और कपड़े भी धूप में अपना रंग खोने से जल्दी जर्जर हो जाते हैं। तात्पर्य कि अति परिश्रम, अति संयम और खुद को अधिक तपाने से बुढ़ापा और निराशा मनुष्य को घेर लेती है। अतः अतिवाद से बचना चाहिए।

कः कालः कनि मित्राणि को देशः को व्ययागमौ।
कस्याहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्यहुः।।(18)

अर्थ—समय कैसा है, कितने मित्र हैं, कौन देश है, मैं किसका हूँ, मेरी शक्ति क्या है और कितनी है? इन सबको सदा सोचते रहना चाहिए।।(18)

भाव—हर व्यक्ति को चाहिए कि अपने हित के लिए अपने समय, मित्र, देश, परिस्थिति, शक्ति पर निरन्तर विचार करता रहे, इस प्रकार अपने आत्म-निरीक्षण तथा आत्म-समीक्षा द्वारा उसे अपनी दुर्बलताएँ और कमियों का ज्ञान होगा जिससे उसका सुधार करते हुए वह उन्नति कर सकता है। समय निरन्तर बदलता है, उसके बदलाव के अनुरूप अपनी रणनीति बनाना, कल के मित्र आज के शत्रु भी हो सकते हैं, उन पर कड़ी दृष्टि रखना, किस देश में है यह सोचकर वहाँ तालमेल बैठाने की युक्ति निकालना और कौन हमदर्द हैं और हमें अपना मानता है उसे पहचानना, अपनी शक्ति का वास्तविक आंकलन यह सब व्यक्ति की सफलता, सुरक्षा व उन्नति के निरन्तर विचारणीय बिन्दु हैं। इन्हीं की ओर चाणक्य का संकेत है।

अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम्।
तिमा स्वल्प बुद्धीनां सर्वत्र सम दर्शिनाम्।।(19)

अर्थ—ब्राह्मण, शत्रिय, वैश्यों के देवता अग्नि हैं, मुनियों को देवता हृदय में है, कम बुद्धि वालों के देवता मूर्तियों में तथा सारे जगत को समान रूप से देखने वालों के देवता सभी जगह हैं।।(19)

भाव—क्षत्रिय और वैश्य यज्ञ में अग्नि की पूजा आदि करते हैं जिसके लिए ब्राह्मण की आवश्यकता होती है, इस प्रकार अग्निदेव तीनों के देवता माने जाते हैं। मुनि अपने हृदयस्थ ईश्वर का ध्यान करते हैं इसलिए उनके उपास्य देवता हृदय में ही मान्य हैं। जो बहुत अधिक शास्त्र

ज्ञान नहीं रखते ऐसे लोग मूर्ति को पूजकर ईश्वर की उपासना करते हैं, इसलिए उनके देवता मूर्ति में ही प्रतीक पूजा के रूप में हैं। विश्व को परमात्मा का रूप जो मानते हैं उनके देवता सभी स्थानों पर विद्यमान होने स्वाभाविक हैं।

पाँचवाँ अध्याय

पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यगतो गुरुः।
गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।।(1)

अर्थ—स्त्रियों का गुरु पति है, अतिथि सबका गुरु है, ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यों का गुरु अग्नि है, चारों वर्णों का गुरु ब्राह्मण है।। (1)

भाव—स्त्रियों के लिए मार्गदर्शक के रूप में उसका पति ही गुरु हो सकता है कोई अन्य नहीं, क्योंकि स्त्री के लिए सम्मान व पूज्य भाव पति के लिए ही उपयुक्त रहता है। अतिथि सत्कार व आदर के योग्य है। इस कारण जब भी वह परिवार में पधारे तो उसका गुरु के समान पूजन-वन्दन होने से उसे सबका गुरु कहा गया है। अग्नि देवता है और उनमें सब कुछ पचा लेने की क्षमता है इसलिए प्रेरणाप्रद होने से वे वंदनीय हैं इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य के लिए वही गुरु मान्य हो सकते हैं। ज्ञान सम्पन्न, तपोनिष्ठ ब्राह्मण चारों वर्ण अथवा सारे समाज का गुरु मानने योग्य है।

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निधर्षण-च्छेदन-ताप-ताड़नैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन, शीलेन गुणेन कर्मणा।। (2)

अर्थ—जैसे कसौटी पर घिसने, काटने, आग में तपाने-पीटने के उपायों से सोना पहचाना जाता है, वैसे ही त्याग, शील, गुण और कर्म इन चारों से मनुष्य पहचाना जाता है।। (2)

भाव—अग्नि में तप कर सोना कुन्दन बन जाता है। उसकी चमक और आकर्षण उसके तप से उसे मूल्यवान बना देते हैं, इसी प्रकार मुनष्य का भी मूल्यांकन वास्तव में उसका तप है। यदि वह तप की अग्नि में तपा हुआ है तो निश्चर्य ही उसमें त्याग व शील के सद्गुण होंगे तथा गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से वह विकसित होगा।

तावद्भयेन भेतव्यं यावद्भयमनागतम्।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमशङ्कया।।(3)

अर्थ—भय से तभी तक डरना चाहिए जब तक भय आया नहीं है परन्तु आए हुए भय को देखकर निशंक हो प्रहार करना चाहिए।। (3)

भाव—वास्तव में भय कल्पना में ही डरावना होता है, किन्तु चाणक्य का यहाँ विचार है भयभीत तभी तक होना उचित है जब तक भय का कारण साक्षात सामने न आ जाए, यदि ऐसी स्थिति है तो बिना किसी झिझक के आक्रामक हो जाना चाहिए।

एकोदर समुद्रभूता एकक्षत्रजातकाः न।
न भवन्ति समाः शीलैर्यथा बदरिकण्टकाः।। (4)

अर्थ—एक ही माता के पेट से और एक ही नक्षत्र में पैदा होते हुए भी समान गुणशील वाले नहीं होते, जैसे बेरी के काँटे।। (4)

भाव—आवश्यक नहीं है कि एक माता के सभी पुत्र एक से गुण, कर्म, स्वभाव वाले हों, सम्भव है कि एक सदाचारी हो तो दूसरा दुराचारी निकले। बेर के पेड़ में जहाँ बेर का फल है वहाँ काँटे भी उसी पेड़ पर उगते हैं। वास्तव में मनुष्य अपने पूर्व अर्जित संस्कारों के अनुरूप ढलता है इसलिए एक ही परिवार के सदस्यों में परस्पर कई भिन्नताएँ पाई जाती हैं।

निःस्पृहो नाधिकारी स्यान्नकामी मण्डनप्रियः।
नाविदग्धः प्रियं ब्रूयात् स्पष्ट वक्ता न वञ्चकः।। (5)

अर्थ—जिसका जिस वस्तु से प्रेम नहीं, उस वस्तु का वह अधिकारी नहीं, जो विषयी नहीं होता वह श्रृंगार शोभा की वस्तुओं का प्रेमी नहीं होता। विद्वान मधुर भाषण नहीं कर सकता, साफ-साफ कहने वाला कपटी नहीं होता।। (5)

भाव—चाणक्य के अनुसार मनुष्य जिस स्तर का होता है उसी के अनुसार उसकी अभिरुचि होती है, यदि कोई संसार से विरक्त है तो उसे संसार की आकर्षक वस्तुओं में कोई रुचि नहीं होगी, इसी प्रकार जो व्यक्ति विषय वासनाओं में ही रचा पचा है वह श्रृंगार सौन्दर्य में ही रुचि लेगा, परमार्थ, साधना, तप जैसी बातों से उसका कोई प्रयोजन नहीं होगा। तात्पर्य कि अपने व्यक्तित्व के स्तर के अनुसार ही मनुष्य की अभिरुचियाँ उत्पन्न

एवं विकसित हुआ करती हैं। एक विद्वान सदैव सत्य को प्रस्तुत करते समय ऐसी भी बातें बोल सकता है जो अप्रिय लगती हों, उसके मन में निश्छलता होती है इसलिए कपटी न होने से वह हर बात स्पष्ट रूप से कह देता है ऐसा व्यक्ति कुछ भी हो, दिल का साफ होता है।

मूर्खाणां पण्डितां द्वेष्या अधनानां महाधनाः।
दुर्भगाणां च सुभगा कुलटानां कुलाङ्गनाः।। (6)

अर्थ—मूर्ख पण्डितों के, धनी दरिद्रों के, विधवाओं की सुहागन स्त्रियाँ और व्यभिचारिणियों की कुल धर्म रखने वाली स्त्रियाँ शत्रु हैं।। (6)

भाव—अभाव, अज्ञान के कारण प्रायः हीनता का बोध होता है जिससे ईर्ष्या, कुण्ठा पनपती है इसलिए आशिक्षित व्यक्ति शिक्षित व्यक्ति से और दरिद्र धनवान से ईर्ष्या करते-करते शत्रुता भी रखने लगता है। स्त्रियों में ईर्ष्या का भाव कुछ अधिक प्रबल होता है, प्रायः विधवाओं में विवाहित स्त्रियों को देखकर पैदा होने वाली ईर्ष्या, वितृष्णा ही शत्रुता बन जाती है। जो स्त्रियाँ स्वेच्छाचारी बन कर अपने सत को खो बैठती हैं वे उन स्त्रियों के प्रति हीनता बोध से ग्रस्त रहती हैं जो संयम का पालन करते हुए अपने कुल-धर्म का पालन किया करती हैं।

आलस्योपहता विद्या परहस्ते गतं धनम्।
अल्पबीजं हतं क्षेत्रं हतं सैन्यमनायकम्।। (7)

अर्थ—आलस्य से विद्या नष्ट हो जाती है, दूसरे के हाथ में गया हुआ धन, बीज की कमी से खेत और सेनापति के बिना सेना नष्ट हो जाती है।। (7)

भाव—अध्ययन में निरन्तर लगे रहने से ही विद्या सुरक्षित रहती है। यदि आलस्यवश अध्ययन न किया जाए तो पहले पढ़ा हुआ विस्मृत हो जाता है। अपना धन अपने पास ही रखना चाहिए अन्यथा दूसरे के पास गया धन नष्ट भी हो सकता है। अपनी खेती की रक्षा करने के लिए बीज की पर्याप्त व्यवस्था रखनी चाहिए क्योंकि बीज के अभाव में खेत नष्ट होकर झाड़-झंकाड़ बनकर रह जाता है। सेना का नेतृत्व करने वाला सेनापति हर दृष्टि से सुरक्षित रहना चाहिए क्योंकि उसी के मार्गदर्शन में पूरी सेना सुरक्षित रहा करती है।

अभ्यासाद्धार्यते विद्या कुलं शीलेन धार्यते।
गुणेन ज्ञायते त्वार्यः कोपो नेत्रेण गम्यते।।(8)

अर्थ—विद्या अभ्यास से होती है, सुशीलता से कुल का बड़प्पन रहता है, श्रेष्ठत्व की पहचान गुण से और क्रोध की पहचान आँख से होती है।। (8)

भाव—चाणक्य ने विद्वान बनने की यहाँ युक्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि विद्या का अभ्यास यानि स्वाध्याय निरन्तर करते रहना चाहिए। यदि अपने कुल को समाज में प्रतिष्ठित बनाना है तो व्यवहार में सुशीलता अथवा शालीनता अपनाएँ इसी गुण के कारण जब श्रेष्ठत्व की पहचान होती है। व्यक्ति के सभी भावों में क्रोध को बड़ी जल्दी पहचाना जाता है जिसकी झलक आँखों में दिखाई पड़ती है।

वित्तेन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
मृग रक्ष्यते भूपः सत्स्त्रिया रक्ष्यते गृहम।।(9)

अर्थ—धर्म की रक्षा धन से, विद्या की रक्षा निरन्तर मनोयोगपूर्वक पढ़ने से तथा ज्ञान प्राप्ति का साधन योग से राजा की रक्षा मृदु स्वभाव से और घर की रक्षा अच्छी स्त्री से होती है।। (9)

भाव—कहा गया है कि धन धर्म का मूल है, धर्म का प्रचार बिना धर्म के नहीं होता, याज्ञदि कार्यों में भी धन की आवश्यकता पड़ती है। जब तक यह कार्य पूरी श्रद्धा से समाज में होते रहते हैं तब तक धर्म भी रहता है और धर्म जब तक रहता है तब तक मनुष्य भी सुरक्षित रहता है। इसलिए चाणक्य का कथन है कि समाज में धर्म के विकास के लिए धन का उपयोग आवश्यक है। साथ ही समाज, राष्ट्र में विद्या का प्रकाश रहे इसलिए यम्, नियमादि के अभ्यास होने चाहिए जो योग केन्द्रों होते हैं, शारीरिक, मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति निरन्तर विद्या का अभ्यास करके विद्या की रक्षा कर सकता है, शासक कटु वचन बोलने वाला या अनर्गल बातें करने वाला होगा तो नष्ट हो जाता है इसलिए शासक को मृदु स्वभाव का होना चाहिए। उसी से वह रक्षित रहता है और उसके विरोधी भी कम होते हैं। स्त्री कर्कश, झगड़ालू स्वभाव की है तो निश्चय ही घर बरबाद होगा क्योंकि स्त्री के विनम्र स्वभाव से घर सुरक्षित रहता है।

अन्यथा वदेपाण्डित्यं शास्त्रमाचार मन्यथा।
अन्यथावादनाच्छान्तलोका क्लिश्यन्ति चान्यथा।। (10)

अर्थ—वेद का पाण्डित्य व्यर्थ है, शास्त्र व्यर्थ हैं, आचार-विचार व्यर्थ हैं, ऐसे अन्यथा कहकर शान्ति पाने वाले लोग व्यर्थ क्लेश करते हैं अर्थात् वे ही व्यर्थ हैं न कि वेदादिक।। (10)

भाव—इस श्लोक के माध्यम से चाणक्य वर्तमान का भी परिद्रश्य प्रस्तुत करते हैं वेद, शास्त्र और सदाचार भारत की महत्त्वपूर्ण धरोहर हैं, जब भी देश में अशान्ति पैदा करनी हो तो लोग सीधे भारत के वेदादि को ग़लत बताकर अशान्ति पैदा करते हैं। आज भी वेदों की निन्दा करना एक व्यवसाय बन गया है, जबकि वेद विश्व की मानव जाति को सृष्टि के सत्य से परिचित कराने वाला ज्ञान हैं।

दारिद्रयनाशनं दानं शीलं दुर्गतिनाशनम्।
अज्ञाननाशिनी प्रज्ञा भावना भयनाशिनी।। (11)

अर्थ—दरिद्रता का नाश दान से, दुर्गति का नाश सुशीलता से, मूर्खता का नाश सद्बुद्धि से और भय का नाश अच्छी भावना से होता है। (11)

भाव—दान मनुष्य को यशस्वी बनाता है। यदि दरिद्र अपना कुछ भी दान करे तो उसे प्राप्त होने वाला यश उसकी दरिद्रता का अवश्य समाधान कर दिखाएगा, कोई भी दुर्गति को तब ही प्राप्त होता है जब वह शालीनता को ताक पर रख दे, किन्तु यदि कोई दुर्गति को प्राप्त व्यक्ति है तो अपने सुशील स्वभाव के कारण उससे उबर जाता है। मूर्खता का अस्तित्व ही दुर्बुद्धि पर टिका होता है। इसलिए सद्बुद्धि के आते ही मूर्खता नष्ट होना स्वाभाविक है। दूसरों के प्रति कपट, छल जैसे भाव रखने वाले स्वयं भी भयभीत रहते हैं, किन्तु जैसे ही उनके इन भावों में परिवर्तन आता है उनका भय भी समाप्त हो जाता है।

नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोहेसमो रिपुः।
नास्ति कोपसमो वह्निर्नास्ति ज्ञानात्परं सुखम्।। (12)

अर्थ—काम के समान दूसरा रोग नहीं, मोह के समान शत्रु नहीं, क्रोध के समान आग नहीं और ज्ञान से बढ़कर सुख नहीं।। (12)

भाव—काम वासना चाणक्य की दृष्टि में सबसे घातक रोग है। यह

सही भी है। क्योंकि काम का रोग शरीर और मस्तिष्क दोनों को खोखला करता है। साथ ही इस रोग के साथ अन्य घातक रोगों की भी बड़ी फौज रहा करती है त्वचा रोग, विक्षिप्तता आदि कामजनित रोग हैं। आजकल तो एड्स भी, जो काम से ही पैदा होता है, फैल रहा है। यह मनुष्य जीवन के लिए ही ख़तरा है। मोह भी व्यक्ति के जीवन में दुश्मन की भूमिका निभाता है, सत्ता, सम्पत्ति, धन, स्त्री के प्रति रहने वाला मोह आए दिन कई लोमहर्षक घटनाओं को जन्म देता है। काम और मोह में व्यवधान होने से क्रोध पैदा होता है जिसकी आग बड़ी विप्लवकारी होती है। वास्तव में आज भी जो समस्याएँ हमारे समाज में हैं उनका कारण काम, क्रोध तथा मोह ही हैं जिसके कारण हिंसा, दुःख, अराजकता फैल गई है, इसका समाधान केवल अज्ञानता है, यदि ज्ञान को प्रतिष्ठित किया जा सके तो सारी मानव जाति सुखी हो सकती हैं इसीलिए चाणक्य ने कहा है कि ज्ञान से बढ़कर कोई सुख नहीं है।

जन्ममृत्युं हि यात्ये को भुनक्त्येकश्शुभा शुभम्।
नरके स पतत्येक एको याति परां गतिम्।।(13)

अर्थ—यह निश्चय है कि अकेले ही जन्मता, मरता, अकेले ही अपने अच्छे-बुरे कर्मों को भोगता, अकेले ही नरक में जाता और अकेले ही परम पद को पाता है। अर्थात् इनमें सहायक कोई नहीं है।। (13)

भाव—मनुष्य अपने किए हुए कर्मों का स्वयं जिम्मेदार है कोई दूसरा नहीं। जैसे वह अकेले जन्म लेता है और मृत्यु को प्राप्त होता है और अकेले ही अपने अच्छे-बुरे कर्मों को भोगता तथा उच्चपद को भी पाता है। उससे सिद्ध होता है कि मनुष्य ही अपने लिए अपनी हर परिस्थिति का निर्माता है। चूँकि इसमें कोई दूसरा सहायक नहीं हो सकता इसलिए प्रत्येक को यह तथ्य ध्यान में रखते हुए स्वयं को श्रेष्ठ विचार व श्रेष्ठ कर्म में लगाना चाहिए।

तृणं ब्रह्मविः स्वर्ग तृणं शूरस्य जीवितम्।
जिताक्षस्य तृणा नारी निः स्पृहस्य तृण जगत।।(14)

अर्थ—ब्रह्मज्ञानियों की दृष्टि में स्वर्ग तृण के समान है, शूरवीर की दृष्टि में जीवन तृण है और जिसको किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं है, उसकी दृष्टि में सारा संसार तृण के समान है।। (14)

भाव—ब्रह्मज्ञान के सामने स्वर्ग का सुख तुच्छ है इसलिए ब्रह्मज्ञान

प्राप्त करने वाले स्वर्ग को तिनके जैसा समझता है, शूरवीर किसी के भी प्राण तिनके बराबर मानता है, वैसे ही अपनी इन्द्रियों पर संयम रखने में सफल व्यक्ति के सामने सुन्दर स्त्री तिनके जैसी है क्योंकि वह उसे सम्मोहित नहीं करती, मगर इच्छा रहित व्यक्ति के लिए सारा विश्व तिनके जैसा है क्योंकि संसार उसी को महत्त्वपूर्ण लगता है जो संसार में अपनी इच्छाओं की पूर्ति होना देखता है।

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च।। (15)

अर्थ—विदेश में मित्र विद्या, घर में मित्र स्त्री, रोगियों का मित्र औषधि, मरे हुए व्यक्ति का मित्र धर्म होता है।। (15)

भाव—जीवन में मनुष्य जो भी धर्म संचय करता है वह मृत्यु के पश्चात काम आता है ठीक वैसे ही जैसे परदेश में सीखी हुई विद्या काम में आती है और घर में स्त्री तथा रोग के समय औषधि। इसलिए चाणक्य का अभिप्राय है कि प्रत्येक मनुष्य को धर्म का मार्ग नहीं छोड़ना चाहिए।

वृथा वृष्टिः समुद्रेषु वृथा तृप्तेषु भोजनम्।
वृथा दानं धनाढ्येषु वृथा दीपो दिवापि च।। (16)

अर्थ—समुद्र में वर्षा का होना व्यर्थ है, संतुष्ट व्यक्ति को भोजन कराना व्यर्थ है, धनिकों को दान देना व्यर्थ है, दिन में दीपक जलाना व्यर्थ है।। (16)

भाव—जिसके पास जिस वस्तु की कमी हो उसे उसी वस्तु का दान देना सार्थक है, अन्यथा जैसे समुद्र में वर्षा, संतुष्ट को भोजन, धनिक को दान और दिन में दीपक जलाना व्यर्थ होता है ऐसे ही वह दान भी किसी अर्थ में नहीं आता। नीति के अनुसार भी बिना आवश्यकता के यदि किसी को कोई वस्तु दी जाए तो वह उसका कोई मूल्य नहीं समझता। अभावग्रस्त व्यक्ति ही अपने अभाव की पूर्ति होने पर कृतज्ञ होता है।

नास्ति मेधा समं तोयं नास्ति चात्मसमं बलम्।
नास्ति चक्षु समं तेजो नास्ति चान्नसमं प्रियम्।।(17)

अर्थ—बादल के जल के समान दूसरा जल नहीं, आत्मबल के समान दूसरा बल नहीं है, अपनी आँख के समान दूसरा प्रकाश नहीं है और अन्न के

समान दूसरा प्रिय पदार्थ नहीं है।। (17)

भाव—कुछ वस्तुएँ असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण होती हैं जैसे बादल का जल! यदि बारिश न हो तो खेती की हानि से अन्न की उपज पर प्रभाव पड़ता है और अकाल तक की स्थिति आ जाती है। बादल के जल से पृथ्वी की नदियाँ भी सुरक्षित रहा करती हैं। आत्मबल के सामने शरीर बल आदि गौण हैं क्योंकि आत्मबल के जरिए विषम परिस्थितियों पर विजय पाई जा सकती है और चमत्कारिक उपलब्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। बाहर कितना ही प्रकाश हो किन्तु अंधे के लिए व्यर्थ है। इसलिए महत्त्व आँख की रोशनी का ही है। जो तृति अन्न से मिलती है वह किसी खाद्य पदार्थ से नहीं मिल सकती इसलिए अन्न से अधिक उपयोगी और प्रिय पदार्थ और कोई नहीं हो सकता।

अधना धनमिच्छन्ति वाचं चैव चतुष्पदा।
मानवाः स्वर्गमिच्छन्ति मोक्षमिच्छन्ति देवता।। (18)

अर्थ—निर्धन लोग धन चाहते हैं, पशु वाणी को, मनुष्य स्वर्ग (सुख) को और देवता लोग मोक्ष को चाहते हैं।। (18)

भाव—कोई भी अपनी वर्तमान अवस्था में प्रायः संतुष्ट नहीं रहता, ग़रीब लोग धन की आकांक्षा में रहते हैं, मनुष्य सदैव सुख की खोज में रहता है और देवयोनि में रहने वाले देवता भी मोक्ष की कामना करते हैं। ये सभी सोचते हैं कि शायद अगली अवस्था में वे ज्यादा सुखी रहेंगे! तात्पर्य तो यह है मनुष्य परम सुख खोजता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक वह क्षणिक सुखों में ही अटका है।

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्व सत्ये प्रतिष्ठितम्।। (19)

अर्थ—सत्य से पृथ्वी स्थित है, सत्य से सूर्य तपता है, सत्य से वायु बहती है, संसार के सभी पदार्थ सत्य में निहित हैं।। (19)

भाव—सृष्टि का अस्तित्व सत्य अर्थात् ईश्वर पर टिका है, पृथ्वी का संतुलन ईश्वर रूपी सत्य पर ही निर्भर है। अनन्त ऊर्जा का स्रोत सूर्य ईश्वर से ही प्रकाश ग्रहण करके निरन्तर तपता है। वायु का भी प्रवाह उसी सत्य पर है, यही नहीं संसार का हर पदार्थ ईश्वरीय चेतना से ओतप्रोत है। ईश्वरीय सत्य

की जब भी उपेक्षा की जाएगी तो मानव जाति को अनेक प्रकार के कष्टों से गुजरना पड़ता है।

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणश्चले जीवितमन्दिरे।
चला चले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः।।(20)

अर्थ—लक्ष्मी (धन) अनित्य है, प्राण अनित्य है, जीवन अनित्य है, घर अनित्य है, इस चलते-फिरते संसार में केवल एक ही निश्चल है, अर्थात् धर्म में रुचि रखनी चाहिए।। (20)

भाव—प्रत्येक व्यक्ति धन, शक्ति, जीवन और अपने घर तक सीमित रहता है और भूल जाता है कि संसार में हर वस्तु क्षणिक है अर्थात् शुरू होकर समाप्त होने वाली है। चाणक्य का कथन है कि धर्म ही ऐसा तत्त्व है जो लौकिक और पारलौकिक लाभ स्थायी रूप से प्रदान करता है, क्योंकि जीवन काल में किया हुआ धर्म संचय संसार में तो प्रतिष्ठा दिलवाता ही है मृत्यु के पश्चात भी वही सुख, और सद्गति का कारण व रक्षक बनता है अन्यथा मरते समय धन, जीवन, मकान आदि की आसक्ति के कारण सब असंतुष्ट स्थिति में ही संसार से विदा होते हैं। इसलिए धर्म के प्रति रुचि रखनी आवश्यक है।

नराणां नापितो धूर्तः पक्षिणां चैव वायसः।
चतुष्पदां श्रगालस्तु स्त्रीणां धूर्ता च मालिनी।।(21)

अर्थ—पुरुषों में नाई धूर्त होता है, चिड़ियों में कौआ, पशुओं में सियार और स्त्रियों में मालिन धूर्त होती है।। (21)

भाव—ये चारों काम बिगाड़ने वाले होते हैं।

जनिता चोपनेता च यस्तु विद्या प्रयच्छति।
अन्नदाता भयत्राता पंचैते पितरः स्मृताः।।(22)

अर्थ—जन्म देने वाला, यज्ञोपवीत कराने वाला, वेद पढ़ाने वाला, अन्न देने वाला और भय से रक्षा करने वाला—ये पाँच प्रकार के पिता कहे गए हैं।। (22)

भाव—ये पाँचों ही किसी न किसी रूप से मनुष्य का संरक्षण करने वाले हैं इसलिए ये पिता के समान श्रद्धा रखने योग्य हैं।

राजपत्नी गुरोः पत्नी मित्र पत्नी तथैव च।
पत्नी माता स्वमाता च पंचैता मातरः स्मृताः।।(23)

अर्थ—राजा की पत्नी, गुरु की स्त्री, मित्र की स्त्री, अपनी स्त्री की माता और अपनी माता ये पाँच माताएँ कही गई हैं।। (23)

भाव—राजा, गुरु, मित्र तथा अपनी स्त्री की माता ये पाँचों ही सम्माननीय हैं और माता के रूप में इन्हें भारतीय संस्कृति में स्थान दिया गया है।

छठा अध्याय

श्रुत्वा धर्म विजानाति श्रुत्वा त्यजति दुर्मतिय।
श्रुत्वा ज्ञानम वाप्नोति श्रुत्वा मोक्षम वाप्नुयात्।।(1)

अर्थ—मनुष्य शास्त्रों को पढ़-सुनकर धर्म को जानता और मूर्खता को छोड़ता है, शास्त्र को सुनकर ज्ञान प्राप्त करता और शास्त्रों को सुनकर ही परम पद पाता है।। (1)

भाव—भारतीय धर्म शास्त्रों में अथाह ज्ञानराशि है जिसे पढ़-सुनकर मनुष्य की नैतिक चेतना जाग्रत होती है और वह अपनी जीवन की ग़लत दिशाओं और पतन से विरत हो जाता हैं। और उस जीवन लक्ष्य को वह पाता है जिसके लिए मनुष्य शरीर एक औजार के रूप में प्रकृति से मिला है। अतएव भारतीय धर्म शास्त्रों को पढ़ने और मनन करने की ओर ही चाणक्य का संकेत है।

काकः पाक्षेषु चाण्डालः पशुनां चैव कुक्कुरः।
पापो मुनिनां चाण्डालः सर्वेषां चैव निन्दकः।।(2)

अर्थ—पक्षियों में कौआ, पशुओं में कुत्ता, ऋषि-मुनियों में पाप और मनुष्यों में चुगलखोर चाण्डाल होता है।। (2)

भाव—ऊँच-नीच का मूल आधार मनुष्य की मानसिकता है, इसी आधार पर किसी को ऊँच और नीच की श्रेणी में रखा जा सकता है, और उसे चाण्डाल कहकर पुकारा जाता है, और उसे चाण्डाल कहकर पुकारा जाता है, पक्षियों में कौए के आचरण को देखा जाए कि वह अन्य पक्षियों के अण्डे फोड़ता है, हानि पहुँचाता और अपना स्वार्थ देखता है, इसलिए उसे चाण्डाल बताया गया, पशुओं में कुत्ता अपने वर्ग को खाते-पीते नहीं देख पाता इसी स्वार्थपूर्ण प्रवृत्ति के कारण उसे चाण्डाल अर्थात् नीच माना गया। मनुष्यों में

निन्दा, चुगली करने की नीच प्रकृति के कारण कोई कितनी ही उच्च जाति का हो, चाण्डाल ही कहाने योग्य है। ऋषियों-मुनियों में यदि कोई पाप का आचरण करे तो वह भी चाण्डाल ही है! वास्तव में नीच प्रवृत्ति और मानसिकता के कारण ही ऊँच-नीच का निर्णय भारत में होता रहा है। मध्यकाल में यह मान्यता एक सामूहिक वर्ग पर ही थोप दी गई।

भस्मना शुद्ध्यते कास्यं ताम्रमलिन शुद्ध्यति।
रजसा शुद्ध्यते नारी, नदी वेगेन शुद्ध्यति।।(3)

अर्थ—राख से कांसे का बर्तन शुद्ध होता है, अम्ल (खटाई) से ताँबे का बर्तन शुद्ध होता है, रजस्वला होने से स्त्रियाँ और धारा के वेग से नदियाँ शुद्ध होती हैं।।(3)

भाव—शुद्धता अथवा सुधार के लिए हर वस्तु पर एक ही उपाय काम में नहीं लाया जाता, कांसे का बर्तन राख घिसने से ही शुद्ध होता और ताँबे का पात्र खटाई से, इसी प्रकार शासन को भी समाज की प्रकृति के अनुसार सुधार के उपाय अपनाने चाहिए। स्त्री को यदि रजस्वला न होना पड़े तो वह शुद्ध नहीं हो सकती, उसी प्रकार जैसे नदी का जल यदि बहना बन्द हो जाए तो वह शुद्ध नहीं रहेगा। इसी प्रकार समाज राष्ट्र में विकृतियाँ तभी पैदा होती हैं जब समाज की जीवन-पम्पराओं तथा श्रेष्ठ क्रिया-कलापों का प्रवाह अवरुद्ध होने लगता हैं। समाज के विचार प्रदूषण को रोकने के लिए और वातावरण शुद्ध बनाने के लिए ज्ञान की अविरल धारा का प्रवाह बहते रहना चाहिए।

भ्रमन्सम्पूज्यते राजा भ्रमन्सम्पूज्यते द्विजः।
भ्रमन्सम्पूज्यते योगी भ्रमन्ती स्त्री विनश्यति।।(4)

अर्थ—प्रजा-रक्षार्थ घूमने वाला राजा सम्मानित होता है, भ्रमण करने वाले ब्राह्मण योगी सम्मानित होते हैं, किन्तु घूमने वाली स्त्री नष्ट हो जाती है।।(4)

भाव—राजा, ब्राह्मण, योगी इनका भ्रमण करना लोक-रक्षार्थ व लोक-कल्याण के लिए अनिवार्य है, इनकी महानता में निखार इन्हीं कार्यों से आता है। राजा अपने राज्य की गुप्त सूचनाएँ स्वयं भ्रमण से ही प्राप्त कर सकता हैं और प्रजा के सुख-दुःख व समस्याओं से अवगत हो सकता। ब्राह्मण तथा योगी लोकसेवा और लोक-कल्याण के लिए भ्रमण द्वारा ही जनमानस को

श्रेष्ठ दिशाओं की तरफ प्रेरित कर सकते हैं, लेकिन स्त्री के लिए भ्रमण उचित नहीं, क्योंकि वह किसी भी मोड़ पर भ्रमण के दौरान भटक सकती है और उसका पतन भी हो सकता है इसलिए स्त्री के भ्रमण को वर्जित माना गया है।

यस्यार्थस्तस्य मित्राणि यस्तार्थस्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थः स पुमांल्लोके यस्यार्थः स च पण्डितः।।(5)

अर्थ—जिसके पास धन है उसके अनेक मित्र हैं, जिसके पास धन है उसी के लोग भाई-बन्धु हैं, जिसके पास धन है वही श्रेष्ठ पुरुष कहा जाता है।।(5)

भाव—चाणक्य ने धन के महत्त्व को नहीं नकारा है बल्कि उसे महत्त्वपूर्ण माना है। इससे सिद्ध होता है कि सदैव से धन का समाज में महत्त्व रहा है और धन मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी रहा है। यह व्यावहारिक सच्चाई भी है कि धनवान व्यक्ति के ही सब मित्र होते हैं, नाते-रिश्तेदार भी! मित्रता व नाते-रिश्ते आज भी धन की धुरी के चारों ओर घूमते नजर आते हैं, केवल इतना ही नहीं, हजार अवगुणों के बावजूद समाज धनवान को ही श्रेष्ठ पुरुषों की श्रेणी में रखता है, इसलिए धन का महत्त्व जीवन में असाधारण है।

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः।
सहायतास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता।।(6)

अर्थ—जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है वैसी ही बुद्धि पैदा होती हैं, उद्योग (कर्म) भी वैसा ही होता है और सहायक भी वैसे ही मिलते हैं।।(6)

भाव—जीवन के सारे घटना क्रम व्यक्ति की नियति के अनुसार बनते-बिगड़ते हैं, जैसी नियति होती है उसी के अनुसार व्यक्ति की मानसिकता बन जाती है और वह उसी दिशा में कर्म करने लग जाता है तथा उसको सहयोगी भी उसी प्रकार के मिलने लगते हैं। मनुष्य के उत्थान व पतन में नियति की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। हमारी अपनी एकत्र विचार सामग्री ही हमारी मानसिक स्थिति बनाती है उसी की तरफ हम प्रेरित होते हैं और उसी ओर हमारी सक्रियता भी होती है। फिर हमारे सामने अच्छे-बुरे परिणाम आते हैं। अपनी विचार-शक्ति के बल पर हम चाहें तो अपनी नियति को

बदल भी सकते हैं।

कालः पचति भूतानिकालः संहरते प्रजाः।
काल सप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।। (7)

अर्थ—भूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) को काल पचाता है, काल ही सभी प्राणियों का नाश करता है, संसार के प्रलय हो जाने पर व स्वप्नावस्था में भी मौजूद रहता है, यह निश्चय है कि काल को कोई नहीं टाल सकता।। (7)

भाव—सम्पूर्ण सृष्टि, सृष्टि में रहने वाले मनुष्य काल अर्थात् समय के वश में होते हैं, समय ही हर वस्तु की उत्पत्ति, स्थिति व विनाश का कारण होता है। आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी, जल ये भूत भी समय के अधीन हैं। समय आने पर ये भी समय के गर्भ में समा जाते हैं, संसार नष्ट भी हो जाए तो भी समय नष्ट नहीं होता। वह स्वप्न की तरह अस्तित्व में रहता है, अतः समय का महत्त्व समझते हुए उसका सदुपयोग करना चाहिए।

न च पश्यन्ति जन्मान्धाः कामान्धों नैव पश्यति।
मदोन्मत्ता व पश्यन्ति अर्थी दोषं न पश्यति।।(8)

अर्थ—जन्म के अंधे नहीं देखते, कामासक्त को नहीं सूझता, मतवाले को नहीं सूझता और अपनी जरूरत सिद्ध करने वाला दोष नहीं देखता।। (8)

भाव—चाणक्य ने यहाँ मनुष्य की उन दुर्बलताओं की ओर संकेत किया है जिनके चलते वह कोई भी समझौता कर सकता है। जन्म से अन्धा व्यक्ति जैसे देख नहीं सकता वैसे ही कामासक्त यानि स्त्री के आकर्षण में अनुरक्त मनुष्य सही-ग़लत कुछ भी नहीं सोच सकता। उन्मत्त रहने वाले की भी यही स्थिति है। जिस को जो जरूरत है वह उसे प्राप्त करने में गुण-दोष का जरा भी विचार नहीं करेगा। अतः ऐसे लोगों पर कदापि विश्वास नहीं करना चाहिए।

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते।।(9)

अर्थ—जीव स्वयं कर्म को करता है और उसके फल को भोगता है, स्वयं ही संसार में भरमता तथा संसार से छुटकारा भी पाता है।। (9)

भाव—चाणक्य का कथन है कि मनुष्य की परिस्थितियाँ उसके कर्मों

का ही प्रतिफल हैं जिन्हें वह स्वयं भोगता है। संसार के प्रति व्यामोह से वह स्वयं ग्रस्त हो जाता है। यदि चाहे तो वह उससे छुटकारा भी पा सकता है। यह कथन सिद्ध करता है कि मनुष्य चाहे तो अपनी नारकीय स्थिति से उबर कर स्वर्गीय परिस्थितियों का निर्माण करने में समर्थ है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी विपन्न स्थितियों से निकलने का प्रयास करना चाहिए। सतत् प्रयास से निश्चय ही सफलता मिलेगी क्योंकि मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता है।

राजा राष्ट्र कृतं पापं राज्ञः पापं पुरोहितः।
भर्ता च स्वीकृतं पापं शिष्य पापं गुरुस्तथा।।(10)

अर्थ—राजा अपने राज्य की प्रजा आदि द्वारा किए गए पाप को, पुरोहित राजा के पाप को, पुरुष अपनी स्त्री के किए हुए पाप को और गुरु अपने शिष्य के पाप को भोगता है।। (10)

भाव—यदि प्रजा में अपराध, अराजकता, झूठ, फरेब, बेईमानी बढ़ जाए तो ये पाप प्रजा द्वारा होने पर भी राजा को नष्ट कर डालते हैं क्योंकि प्रजा में इन प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने का दायित्व राजा का होता है, किन्तु यदि राजा पाप कर्म में लग जाए तो यह दोष राज्य के उस पुरोहित का माना जाता है जो सत्ता का नैतिक मार्गदर्शन करता है। इसी प्रकार अपनी पत्नी के द्वारा किए गए पापाचरण का दण्ड पति को अपयश के रूप में भोगना पड़ता है। शिष्य को शिक्षा देने वाला गुरु अपने शिष्य के दुराचरण का उत्तरदायी है क्योंकि गुरु के शिक्षण कार्य में किसी कमी के कारण ही शिष्य दुराचरण की तरफ प्रेरित हुआ। अतएव राजा को प्रजा में, पुरोहित को राजसत्ता में पति को पत्नी में, गुरु को शिष्य में अनैतिकता और दुष्प्रवृत्ति को नहीं पैदा होने देना चाहिए और उन पर कड़ी निगरानी रखनी चाहिए।

ऋणकर्ता पिता शत्रुर्माता व्यभिचारिणी।
भार्या रूपवती शत्रुः पुत्र शत्रुनपण्डितः।।(11)

अर्थ—सन्तान पर ऋण छोड़कर जाने वाला पिता शत्रु है, व्यभिचारिणी माता शत्रु है, सुन्दर स्त्री है, मूर्ख पुत्र शत्रु है।। (11)

भाव—पिता यदि सन्तान पर ऋण छोड़ जाय तो सन्तान उसे चुकाने के लिए जो कष्ट भोगती है उस दशा को पहुँचाने का काम प्रायः शत्रु करते हैं

इसलिए सन्तान को ऋण भार से दबा कर जाने वाला पिता शत्रु के ही समान है, व्यभिचारिणी माता के कारण सन्तान समाज में बिना किसी दोष के निन्दनीय बन जाती है, ऐसी माता का आचरण शत्रुवत् ही माना जाएगा। इसी प्रकार किसी की स्त्री सुन्दर हो तो उस पर कुदृष्टि रखने वाले आएदिन उस परिवार में घुसपैठ, विघटन आदि के षड्यंत्र द्वारा उस स्त्री को भोगने की चेष्टा करते हैं, कभी-कभी तो उसके पति की हत्या भी कर डालते हैं, इसलिए सुन्दर स्त्री शत्रु ही है। मूर्ख पुत्र के कारण हर क्षण विपत्ति की आशंका रहती है इसलिए वह भी शत्रु समान ही है।

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्स्तब्धमञ्जिल कर्मणा।
मूर्ख छन्दानुरोधेन याथार्थ्येन च पण्डितः।। (12)

अर्थ—लोभी को धन से, घमण्डी को हाथ जोड़कर, मूर्ख को उसके अनुकूल व्यवहार से और पण्डित को सच्चाई से वश में करना चाहिए।। (12)

भाव—धन के लालच से लोभी शीघ्र वश में हो जाता है। घमण्डी मूर्ख होता है। उसका अहंकार हाथ जोड़ने से तुष्ट हो जाय तो वह वश में हो जाता है, मूर्ख जैसा चाहे यदि वैसा ही किया जाने लगे तो वह प्रसन्नतापूर्वक वश में होता है, किन्तु पण्डित अर्थात् बुद्धिमान व्यक्ति के सामने कोई युक्ति न अपनाकर सरलता और सच्चाई का व्यवहार करना चाहिए। वह इससे ही वश में होता है।

वरं न राज्यं न कुराजराज्यं वरं न मित्रं न कुमिजामित्रम्।
वरं न शिष्यो न कुशिष्यशिष्यो वरं न दारा न कुदार दाराः।। (13)

अर्थ—बिना राज्य के रहना उत्तम है, परन्तु दुष्ट राजा के राज्य में रहना अच्छा नहीं। बिना मित्र के रहना अच्छा किन्तु दुष्ट मित्र का होना अच्छा नहीं। बिना शिष्य के रहना अच्छा किन्तु नीच शिष्य का होना अच्छा नहीं। बिना स्त्री के रहना अच्छा परन्तु दुष्ट स्त्री का होना अच्छा नहीं।। (13)

भाव—दुष्ट राजा के राज्य में सदैव दुःख और विपत्ति के अवसर रहते हैं, ऐसे राज्य को त्याग कर उस राज्य की सीमा से बाहर होना श्रेयस्कर हैं और वन में गुजर-बसर कर लेना उससे श्रेष्ठ है, दुष्ट मित्र एक प्रकार का शत्रु है। उससे तो बिना मित्र के रहना उत्तम है। नीच शिष्य गुरु को अपयश ही

दिलाता है इसलिए उसकी अपेक्षा बिना शिष्य के रहना ही व्यावहारिक है। दुष्ट स्त्री के साथ जीवन नरक बन जाता है अतएव बिना स्त्री के रहना दुष्ट की अपेक्षा ठीक है।

कुराजराज्येन कुतः प्रजा सुखं कुमित्रामित्रेण कुतोऽभिनिवृत्तिः।
कुदारदारैश्च कुतो गृहे सुखं कुशिष्यम ध्यापयतः कुतोयशः।।(14)

अर्थ—दुष्ट राजा के राज्य से जनता को सुख कहाँ? दुष्ट मित्र से शान्ति कहाँ? दुष्ट स्त्रियों से घर में सुख कहाँ? दुष्ट विद्यार्थी को पढ़ाने वालों को यश कहाँ हो सकता है? अर्थात् ये सभी दुखदायी हैं।। (14)

भाव—दुष्ट आचरण वाला शासक (राजा) जनता को कभी सुखी नहीं रख सकता है और दुष्ट मित्र के साथ कभी शान्ति नहीं मिल सकती। परिवार में दुष्ट स्त्रियाँ सदैव कलह-कोहराम मचाए रखती हैं। ऐसे घर में सुख का लेश भी नहीं रहेगा। दुष्ट विद्यार्थी को पढ़ाने वाला आचार्य सदैव अपयश भोगता है। विद्यार्थी के आचरण को देखकर उसके गुरु की निन्दी स्वाभाविक हैं। ये सब मनुष्य को दुःख देने वाले हैं अतः इनसे बचना उचित है।

सिंहादेकं बकादेकं शिक्षेच्चत्वारि कुक्कुटात्।
वायसात्पञ्च शिक्षेच्च षट शुनस्त्रीणी गर्दभात्।।(15)

अर्थ—सिंह से एक, बगले से एक, मुर्गे से चार, कौए से पाँच. कुत्ते से छह और गदहे से तीन गुण सीखने चाहिए।। (15)

भाव—इस श्लोक का मूल भाव यह है कि मनुष्य को जो बात, जो सद्गुण जहाँ से भी अच्छे मिले, उसे ग्रहण कर लेना चाहिए। इनका उल्लेख आगे के पाँच श्लोकों में किया गया है।

प्रभूतं कार्यमल्पं वा यन्नर कर्तुमिच्छति।
सर्वारम्भेण तत्कार्यं सिंहादेकं प्रचक्षते।।(16)

अर्थ—किए जाने वाला कार्य छोटा हो या बड़ा, उसको शक्ति लगाकर करना उचित है। यह गुण सिंह से सीखना चाहिए।। (16)

भाव—काम छोटा हो या बड़ा, उसे एक बार हाथ में लेने के बाद नहीं छोड़ना चाहिए। उसे अपनी लगन व पूरी क्षमता के साथ करना चाहिए। जैसे सिंह पकड़े शिकार को कभी नहीं छोड़ता। सिंह का यह एक गुण अवश्य

लेना चाहिए।

इन्द्रियाणि तु संयम्य बकवत् पण्डितो नरः।
देशकाल बलं ज्ञात्वा सर्वकार्याणि साधयते।।(17)

अर्थ—विद्वान पुरुष का कर्तव्य है कि बगले के समान अपनी इन्द्रियों का संयम कर देश, काल और बल को समझकर सभी कार्यों को करे—यह एक गुण बगुले से सीखे।। (17)

भाव—बगला बड़ी शान्ति और संयम के साथ जल में मछली पर अपना ध्यान केन्द्रित रखता है और अवसर पाते ही उस पर झपट जाता है। बगले की इस सफलता का रहस्य उसकी एकाग्रता है। इसी प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह मन आदि इन्द्रियों को एकाग्र करके अपने लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करे और यह गुण बगले से सीखे। वास्तव में एकाग्रता ही वह चमत्कार है जो लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होता है।

प्रत्युत्थानञ्च युद्धञ्च सविभागञ्च बन्धुष।
स्वमाक्रम्य भोगं च शिक्षेच्चत्वारि कुक्कुटात्।।(18)

अर्थ—ब्रह्ममुहूर्त में जागना, रण में पीछे न हटना, बन्धुओं में किसी वस्तु का समभाग करना और स्वयं चढ़ाई करके किसी अपने भक्ष्य को ले लेना, इन चारों को मुर्गे से सीखे।। (18)

भाव—ब्रह्ममुहूर्त में जागना, युद्ध में पीछे न हटना और बन्धुओं में बराबर की सहभागिता तथा अपने भाग अर्थात् अधिकार को स्वयं प्राप्त करना। मुर्गे के इन गुणों को मनुष्य सीखकर समय से उठना, वीरता, दूसरों का अधिकार न छीनना तथा अपना अधिकार लेने के लिए संघर्ष को तैयार रहना जैसे श्रेष्ठ गुण विकसित कर सकता है।

गूढ़ मैथुन चारित्वं काले-काले च संग्रहम्।
अप्रमत्तम् विश्वासं पञ्च शिक्षेच्च वायसात्।।(19)

अर्थ—मैथुन (स्त्री संभोग) गुप्त स्थान में करना, छिपकर चलना, समय-समय पर सब अभीष्टों का संग्रह करना, सभी कार्यों में सावधान रहना, किसी का विश्वास न करना, इन पाँच गुणों को कौए से सीखे।

भाव—कौआ सदैव एकान्त में रतिक्रिया करता है और अवसर मिलते ही समय-समय पर वह सतर्कता से अन्न भी एकत्र कर लेता है, सदैव

आलस्य रहित न सावधान रहना ,उसका स्वभाव है, किसी पर विश्वास न करने से उसकी सफलता निश्चित रहती है। मुनष्य भी कौए के इन गुणों से अपनी जीवन नीति बनाकर सफलता के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

बह्वाशी स्वल्पसंतुष्टः सुनिद्रो लघुचेतनः।
स्वामिभक्तश्च शूरश्च षडेते श्वानतो गुणाः।।(20)

अर्थ—बहुत भोजन करने की शक्ति रखे किन्तु थोड़े से संतुष्ट हो, गहरी नींद सोए, परन्तु तनिक भी खटके पर जग जाए, अपने स्वामी से प्रेम करे और शूरता दिखलावे—इन छह गुणों को कुत्ते से सीखे।। (20)

भाव—कुत्ते के ये गुण जीवन नीति में बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। भूख से कम खाना स्वास्थ्य को संतुलित रखता है। निद्रा का नियोजन, प्रमाणिकता तथा बहादुरी मनुष्य को स्वस्थ, विश्वसनीय तथा प्रभावशाली बना सकते हैं।

सुश्रान्तो हि वहेद्भारं शीतोष्णे न च पश्यति।
सन्तुष्टश्चरते नित्यं त्रीणि शिक्षेच्च गर्दभात्।।(21)

अर्थ—अत्यन्त थकने पर भी बोझ को ढोना, ठण्डा और गरम का विचार न करना, सदा सन्तोषपूर्वक विचरना, इन तीनों गुणों को गधे से सीधे।। (21)

भाव—गधे में कड़े परिश्रम का गुण प्रेरणाप्रद है। वह थकने पर भी बोझ ढोता है, उसका शीत, गर्मी में सम रहना भी जीवन में साक्षी बने रहने की प्रेरणा देता है, सदा सन्तोष से रहने का उसका स्वभाव अपनाने पर अनेक प्रकार के मानसिक तनाव तथा असन्तोष से बचा जा सकता है।

य एतान् विंशति गुणानाचरिष्यति मानवः।
कार्यावस्थासु सर्वासु अजेयः स भविष्यति।।(22)

अर्थ—जो मुनष्य इन बीस गुणों को याद रखकर वैसा ही आचरण करेगा वह सदा सब कार्यों में विजय प्राप्त करेगा।

भाव—चाणक्य ने उपरोक्त बीस गुणों के आधार पर जीवन नीति बनाने का प्रतिपादन किया है जो वर्तमान समय में भी अत्यन्त व्यावहारिक हैं। यदि उपरोक्त गुणों को क्रम-क्रम से अभ्यास करते हुए धारण किया जाए तो वह सफलता अर्जित की जा सकती है जो देखने में चमत्कार

लगती है। हमारी आदतें ही हमारे जीवन में परिणाम बनकर आती हैं, इसलिए जीवन में हमें ऐसी आदतों का अभ्यास करना चाहिए जिन्हें पशु-पक्षियों के दृष्टान्त द्वारा चाणक्य ने रेखांकित किया है और अन्त में आश्वस्त भी किया है कि उक्त गुणों के आचरण से सभी कार्यों पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

सातवाँ अध्याय

अर्थनाश मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च।
वंचनं चापमान् च मतिमान्न प्रकाशयेत्।।(1)

अर्थ—बुद्धिमान परुष धन के नाश को, मन के संताप को, घर की बुराइयों को, किसी धूर्त से ठगे जाने को, और अनादर को किसी से न कहे।।(1)

भाव—दूसरे लोग सदैव दुर्बलताओं का अनुचित लाभ उठाते हैं और इसके लिए छिद्र तलाशते रहते हैं। इसलिए चाणक्य का कथन है कि यदि कोई आर्थिक क्षति हो जाए और उससे मन में संताप हो तो उसे दूसरों से न कहा जाए, अपने घर के दोष भी दूसरों को बताने से मनुष्य उपहास का पात्र बनता है, यदि कोई धूर्त ठग ले और कहीं अपमान हुआ हो तो भी कह देने से उसका अनावश्यक प्रचार होता है और लोग ठगे गए और अपमानित व्यक्ति को ही मूर्ख बताकर उसकी निन्दा करने लगते हैं, अतः इन सब बातों को गुप्त रखना ही बुद्धिमानी है।

धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासङ्ग्रहणेषु च।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत्।।(2)

अर्थ—धन और अन्न के लेन-देन में, विद्या प्राप्ति के समय, भोजन और अन्य व्यवहार में भी संकोच न रखने वाला पुरुष सुखी रहता है।।(2)

भाव—सदैव व्यवहारकुशल रहना सुखी रहने का सूत्र है। जीवन-व्यापार में धन और अन्न का लेन-देन भी होता है इसलिए यह सारे कार्य निस्संकोच करने चाहिए अन्यथा अपना धन और अन्न मारा जाता है और दुःख मिलता है। विद्या प्राप्ति के समय अपनी शंका का समाधान गुरु से करने में संकोच नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे हानि यह है कि विषय आत्मसात्

नहीं हो पाता, यही भोजनादि व्यवहारों के विषय में नियम है। अत: नकारने और स्वीकारने का साहस मनुष्य को जीवन के हर व्यवहार में अपनाना चाहिए, इससे मनुष्य सुखी रहता है।

सन्तोमृत तृप्तानां तत्सुखं शान्तचेतसाम्।
न च तद्धनलुब्धानामितश्च चेतश्च धावताम्।।(3)

अर्थ—शान्त चित्त वाले मनुष्य को सन्तोष रूपी अमृत से जो सुख है, वह इधर-उधर दौड़ने वाले धन के लोभियों को नहीं है।। (3)

भाव—चाणक्य का विचार है कि मनुष्य में सन्तोष सुखी जीवन के लिए आवश्यक है। वास्तव में धन के लालच में दिन-रात दौड़ने और खपने वालों को धन का सुख भी नहीं मिलता और साथ ही उनके लोभ को भी विराम नहीं मिल पाता। सन्तोष जीवन का अमृत है जो मनुष्य को सुखी बनाता है।

संतोषस्त्रिषु कर्तव्य: स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु रवैव न कर्तव्योऽध्ययने जपदान यो:।।(4)

अर्थ—अपनी स्त्री, भोजन और धन इन तीनों में सन्तोष करना चाहिए। विद्या पढ़ना, जप करना-कराना, और दान देना—इन तीनों में संतोष नहीं करना चाहिए।

भाव—स्त्री, भोजन और धन ये जैसा भी अपने पास है उसमें संतुष्ट रहना चाहिए, परन्तु अध्ययनशीलता द्वारा ज्ञान प्राप्त करने, ईश्वर की उपासना और खोज के लिए जप करने, अभावग्रस्त को दान देने में कभी सन्तोष का भाव न आने देना कर्तव्य है क्योंकि ये सब मनुष्य को समृद्धि और यश दिलाने वाले कार्य हैं।

विप्रयोर्विप्रवह्नयोश्च दम्पत्यो: स्वामिभृत्ययो:।
अन्तरेण न गन्तव्यं हलस्य वृषभस्य च।।(5)

अर्थ—दो ब्राह्मणों के, ब्राह्मण और अग्नि के, स्त्री और पुरुष के, मालिक और नौकर के और हल तथा बैल के बीच से होकर नहीं जाना चाहिए।। (5)

भाव—जीवन में सजगता बहुत जरूरी है इसलिए चाणक्य का कहना हैं कि दो ब्राह्मणों के बीच से गुजरने का अर्थ यही है कि आप उनके विवाद

में विघ्न डाल रहे हैं। अतः कभी उनके बीच से होकर न निकलें। ब्राह्मण और अग्नि के बीच से गुजरने का अर्थ यही है कि आप उनके अग्निहोत्र में विघ्न डाल रहे हैं। पति-पत्नी तथा स्वामी और सेवक के बीच में जब वार्तालाप चल रहा हो, तब बीच से गुजरकर आप उनकी बातों में विघ्न डालते हैं। इसी तरह बैल और हल के बीच से निकलते वक्त चोट लग जाने का भय रहता है। अतः इन सब बातों का ध्यान रखना चाहिए।

पादाभ्यां न स्पृशेदग्निं गुरुं ब्राह्मणमेवच।
नैव गां न कुमारीं च न वृद्ध न शिशुं तथा।।(6)

अर्थ—पैर से अग्नि, गुरु, ब्राह्मण, गौ, कन्या, वृद्ध और बालक इनको नहीं छूना चाहिए।। (6)

भाव—ब्राह्मण, अग्नि, गुरु तथा गौ और कन्या, वृद्ध ये सभी पूजनीय श्रेणी के हैं, बालक भी भगवान का स्वरूप है इन्हें पैर से स्पर्श करना इनका अपमान है, इसलिए इन्हें पैर से स्पर्श नहीं करना चाहिए।

शकटं पंचहस्तेन दशहस्तेन वाजिनम्।
हस्ती हस्तसहस्त्रेण देश त्यागेन दुर्जनम्।।(7)

अर्थ—गाड़ी से पाँच हाथ, घोड़े से दस हाथ, हाथी से हजार हाथ दूर बचकर रहना चाहिए और दुष्ट पुरुष का देश (स्थान) ही छोड़ देना चाहिए।। (7)

भाव—पशु के स्वभाव का कुछ पता नहीं होता, न जाने किस समय वह बिगड़ जाए इसलिए उससे दूरी बनाए रखना अपेक्षित है। इसके लिए शकट तथा पशुओं से दूरी रखने का उल्लेख चाणक्य ने किया है। और जहाँ दुष्ट किस्म के लोग हों उस स्थान को ही छोड़ना ठीक है!

हस्ती अङ्कुशमात्रेण वाजी हस्तेन ताडयते।
शृङ्गी लगुड हस्तेन खड्ग हस्तेन दुर्जनः।।(8)

अर्थ—हाथी अंकुश से, घोड़ा हाथ (चाबुक) से, सींग वाला जानवर लाठी से, दुष्ट मनुष्य तलवार से मारा जाता है। अर्थात् इनको वश में करने के लिए ये ही साधन हैं।। (8)

भाव—हाथी, घोड़ा तथा सींग वाला पशु जिस प्रकार अंकुश, लाठी से वश में होता है उसी प्रकार दुष्ट मनुष्य भी जो पशु के ही समान हैं तलवार आदि शस्त्र से ही वश में होते हैं।

तुष्यन्ति भोजने प्रिया मयूरा धनगर्जिते।
साधवः पर संपत्तौ खलाः पर विपत्तिषु।।(9)

अर्थ—ब्राह्मण भोजन पाने पर सन्तुष्ट होते हैं, मोर बादल के गरजने पर साधु (सज्जन पुरुष) लोग दूसरे के धन बढ़ने पर, दुष्ट लोग दूसरों पर विपत्ति आने पर सुखी होते हैं।। (9)

भाव—प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार संतुष्ट और असंतुष्ट होता है, ब्राह्मण वृत्ति का व्यक्ति आदर-मान व भोजन से संतुष्ट हो जाता है, सज्जन साधु लोग जो दूसरों की भलाई, उन्नति चाहते हैं वे सदैव दूसरों की सम्पत्ति और धन बढ़ने से संतुष्ट होते हैं जबकि दुर्जन प्रकृति के लोग दूसरों के उत्कर्ष से जलते हैं, इसलिए यदि दूसरों पर विपत्ति आए तो उन्हें संतोष का अनुभव होता है।

अनुलोमेन बलिनं प्रतिलोमेन दुर्बलम्।
आत्मतुल्यबलं शत्रुं विनियेन बलेन वा।।(10)

अर्थ—अपने से बली शत्रु को उसके अनुकूल चल कर, दुर्बल को भय दिखाकर, और समान बल वाले को अपने बल या नम्रता से जैसा समय हो वश में करना चाहिए।। (10)

भाव—नीति के अनुसार अपने से बलवान शत्रु से मित्रता रखी जाए या उसके अनुकूल व्यवहार रखा जाए, यदि शत्रु दुर्बल है तो उसे भय से भी वश में किया जा सकता है। समान बल वाले शत्रु को स्थिति के अनुसार बल का व विनम्रता का व्यवहार उचित है। तात्पर्य यह है कि हर प्रकार के शत्रु की शक्ति का पूर्व आंकलन करके यदि उसे व्यवहार किया जाएगा तो उसे वश में किया जा सकता है।

बाहुवीर्यं बल राज्ञो ब्राह्मणो ब्रह्मविद् बलि।
रूप यौवन माधुर्यं स्त्रीणां बल मनुत्तमम्।।(11)

अर्थ—बाहुबल ही राजा का बल है, ब्रह्मविद् (ब्रह्मज्ञानी व वेदपाठी) ब्राह्मण बली होता है, सुन्दरता, युवावस्था, मधुर वाणी आदि स्त्रियों के उत्तम गुण हैं।। (11)

भाव—शक्तिशाली राजा ही राज्य में सुव्यवस्था रख सकता है, बलहीन राजा राज्य को संकट में डाल देता है। इस दृष्टि से उचित ही है कि

उसका बल ही उसे राजा के पद पर बैठाने का कारण है। अत: राजा को बलवान होना चाहिए। ब्राह्मण का बल उसका ब्रह्मज्ञान है। उसी के बल व तेज से वह शक्तिशाली व प्रभावशाली बनता है। स्त्री कितनी ही सुन्दर व युवा हो यदि उसका स्वर भारी और कर्कश हो तो उसकी सुन्दरता फीकी हो जाती है। इसलिए उसकी वाणी में माधुर्य का गुण अनिवार्य है।

नात्यन्तसरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम्।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठनि पादपा:।।(12)

अर्थ—बहुत सीधे स्वभाव से रहना अच्छा नहीं होता, जाकर वन में देखो कि सीधे ही पेड़ काटे जाते हैं और टेढ़े ज्यों के त्यों खड़े रहते हैं।। (12)

भाव—अत्यन्त सीधे-सरल लोगों को दुर्बल समझकर दुष्ट लोग अपना निशाना बनाते हैं और प्रताड़ित करते हैं। अत: बहुत सीधापन भी दुखदायी होता है। चाणक्य ने उदाहरण देते हुए कहा है कि जंगल में पहले सीधे पेड़ों को ही काटा जाता है, अत: समाज में ऐसा व्यवहार रखना चाहिए कि कोई सरल स्वभाव का अनुचित लाभ न उठा सके और न अन्यायपूर्वक प्रताड़ित कर सके।

यत्रोदकं तत्र वसन्ति हंसास्तथैव शुष्क परिवर्जयन्ति।
न हंस तुल्येन नरेण: भाव्यं पुनस्त्यजत: पुनराश्रयन्त।।(13)

अर्थ—जिस सरोवर में जल रहता है, वहाँ ही हंस बस जाते हैं और सूखे को छोड़ देते हैं, ऐसे हंस के समान पुरुष को नहीं होना चाहिए कि बार-बार छोड़े और बार-बार आश्रय ले।। (13)

भाव—मनुष्य को एक रूप में रहना ही उत्तम है। आवश्यकता के समय अपना लेना और आवश्यकता पूरी होने पर छोड़ देना यह स्वभाव ठीक नहीं।

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि लक्षणम्।
तड़ागोदर संस्थानां परिवाह इवाम्मसाम।।(14)

अर्थ—कमाए हुए धन को दान देना या व्यय करना ही उसकी रक्षा है जैसे तालाब के पानी का बहते रहना ही सफल है।। (14)

भाव—उपार्जित धन को यदि दान या व्यय नहीं किया जाए तो व्यर्थ ही है, केवल इतना ही नहीं वरन् उससे कई बुराइयों तथा संकट भी आ खड़े

होते हैं। ऐसा धन दूषित भी हो जाता है, क्योंकि धन को द्रव्य भी कहा गया है और द्रव्य का स्वभाव बहने का होता है। यदि वह एकत्र रहेगा तो उसमें विकार पैदा होगा। जैसे तालाब का जल न बहने से दूषित हो जाता है। वास्तव में धन की तीन गति होती हैं—दान, भोग और नाश! यदि दान और भोग नहीं किया गया तो वह नष्ट हो जाएगा, अत: चाणक्य का कथन सही है कि धन की रक्षा के लिए दान तथा उसके व्यय का क्रम चलाए रखना चाहिए।

यस्यार्थस्तस्य मित्राणि यस्यार्थस्तस्य बान्धवा:।
यस्यार्थ: स पुमांल्लोके यस्यार्थ: स च जीवति।।(15)

अर्थ—जिसके पास धन है उसके मित्र तथा भाई-बन्धु बहुत से लोग बन जाते हैं। 'धनी' लोक में सम्मान पाता है और धनी ही जीवित रहता है। यदि सुकर्म किया तो उसका नाम अमर हो जाता है।। (15)

भाव—यदि समाज में सम्मानपूर्वक रहना हो तो धनी होना अनिवार्य है, चाणक्य का यह कथन उचित भी है और व्यावहारिक भी कि धनी व्यक्ति के साथ ही अपनी रिश्तेदारी व मित्रता जोड़ते नजर आते हैं, धनहीन व्यक्ति अकेला पड़ जाता है और लोकसम्मान से भी वांचित रहता है। परन्तु धनवान सत्कर्म भी करे तो उसे अमरता भी प्राप्त होती है।

स्वर्गस्थितानमिह जीवलोकि चत्वार चिन्हानि वसन्ति देहे।
दान प्रसंगो मधुरा च वाणी देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणश्च।।(16)

अर्थ—स्वर्ग भोगने के बाद इस संसार में आए लोगों के शरीर में चार लक्षण होते हैं—दान देने की प्रवृत्ति, मीठी बोली, देवताओं का पूजन और ब्राह्मणों को भोजनादि से सन्तुष्ट करना अर्थात् ये श्रेष्ठ पुरुष हैं।। (16)

भाव—दान की भावना वस्तुत: त्याग व लोक कल्याण की प्रवृत्ति है जो प्राय: देवताओं में होती है, इसी प्रकार मधुर भाषण, देवताओं के प्रति पूजन आदर और ईश्वर-परायण लोगों का पूजन तथा उनको संतुष्ट करने का प्रयास यह सभी प्रवृत्तियाँ स्वर्गीय परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्ति में सहज ही होती हैं।

अत्यन्तकोप: कटुका च वाणी दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्।
नीच प्रसग: कुलहीन सेवा चिन्हानि देहे नरक स्थितानाम्।।(17)

अर्थ—अधिक क्रोध, कटु वचन, दरिद्रता, अपने लोगों से वैर, नीचों

का साथ और नीच कुल की सेवा—ये सब लक्षण नरक से आए हुए लोगों के शरीर में होते हैं।। (17)

भाव—अधिक क्रोध, कड़वी जुबान, मानसिक आर्थिक दरिद्रता और अपनों से ईर्ष्या-वैर रखने वालों की प्रवृत्ति नारकीय जीवन जीने वालों जैसी ही है अत: चाणक्य ने कहा है कि उनके शरीर के ये लक्षण नरक से आए हुए जीवों के समान होते हैं।

गम्यते यदि मृगेन्द्र मन्दिरं लभ्यते करिकपोल भौक्तिकम्।
जम्बूकालयगते च प्राप्यते वत्सपुच्छखर चर्मखण्डनम्।।(18)

अर्थ—यदि कोई व्यक्ति सिंह की मांद के पास जाता है तो गजमोती पाता है और यदि सियार की मांद के पास जाता है तो बदड़े की पूँछ और गदहे के चमड़े का टुकड़ा पाता है।। (18)

भाव—जिस व्यक्ति के जितने बड़े लक्ष्य होते हैं उतनी ही बड़ी उपलब्धियाँ उसे मिलती हैं जबकि छोटे लक्ष्य वाले छोटी उपलब्धियाँ प्राप्त करके रह जाते हैं जैसे शेर हाथी को मारता है जिससे उसकी मांद के पास गजमोती कीमती वस्तु मिल जाती है और सियार गधे और बछड़े जैसे छोटे जीवों को मारता है इसलिए वहाँ बछड़े की पूँछ और गधे के चमड़े का मामूली-सा टुकड़ा ही मिला करता है।

शुनः पुच्छमिव व्यर्थ जीवितं विद्यया विना।
न गुह्यगोपने शक्तं न च दंश निवारणे।। (19)

अर्थ—जैसे कुत्ते की पूँद गुप्त इन्द्रिय को ढक भी नहीं सकती और न मच्छर को दंश मारने से हटा सकती है, अत: व्यर्थ है, वैसे ही बिना विद्या के मनुष्य जीवन व्यर्थ है।। (19)

भाव—जिस प्रकार कुत्ते की पूँछ से उसके गुप्त नहीं छिपते और मच्छरों को काटने पर उनका निवारण नहीं होता, इसी प्रकार विद्याहीन पुरुष मूर्खता के कारण अपनी रक्षा करने में असमर्थ होता है। वह अपना भरण-पोषण भी ठीक से नहीं कर पाता।

वाचां शौचं च मनसा शौचमिन्द्रियर्निग्रहः।
सर्वभूते दया शौचमेतच्छौचं परार्थिनाम्।।(20)

अर्थ—वचनों की शुद्धि भाषण है, मन की शुद्धि इन्द्रिय को वश में

रखना है, सब जीवों पर दया करना यह परमार्थियों की शुद्धि है।। (20)

भाव—बोलचाल अथवा वाणी में पवित्रता, मन की स्वच्छता और यहाँ तक कि इन्द्रियों को वश में रखकर पवित्र रहने का भी कोई महत्त्व नहीं, जब तक कि मनुष्य के मन में जीव मात्र के लिए दया की भावना उत्पन्न नहीं होती, सच्चाई यह है कि परोपकार ही सच्ची पवित्रता है। बिना परोपकार की भावना के मन, वाणी और इन्द्रियाँ पवित्र नहीं हो सकतीं। व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने मन में दया और परोपकार की भावना को बढ़ाए।

पुष्पे गन्धस्तिले तैलं काष्ठे वह्निः पयोघृतम्।
इक्षौ गुड़ं तथा देहे पश्यात्मानं विवेकतः।।(21)

अर्थ—फल में सुगन्धि, तिल में तेल, काठ में आग, दूध में घी, ईख में गुड़ आदि जैसे रहते हैं, वैसे ही अपने शरीर में आत्मा को देखो।। (21)

भाव—अपने जीवन मनुष्य का कर्तव्य है कि वह समझने का प्रयास करे कि वह शरीर न होकर आत्मा है। आत्मा रूपी तत्त्व इस देह में उसी प्रकार विद्यमान रहता है जैसे फूलों में गंध, तिलों में तेल, लकड़ी में अग्नि तथा गन्ने में मिठास और दूध में घी विद्यमान होने पर भी दिखाई नहीं देते।

आठवाँ अध्याय

अधमा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमा।
उत्तमा मान मिच्छन्ति मानो हि महतां धनम्।।(1)

अर्थ—निकृष्ट लोग धन को चाहते हैं, मध्यम लोग धन और बढ़ाई को चाहते हैं, उत्तम लोग सम्मान को चाहते हैं क्योंकि मान ही बड़ों का धन है।।(1)

भाव—संसार में हर मनुष्य के अलग-अलग स्तर हैं, उन्हीं स्तरों के आधार पर मनुष्य निकृष्ट, मध्यम तथा उत्तम कोटि की श्रेणी में आते हैं। चाणक्य ने निकृष्ट श्रेणी में उन मनुष्यों को माना है जो केवल धन चाहते हैं व मध्यम कोटि के मनुष्य उन्हें बताया है जो धन भी चाहते हैं साथ ही प्रशंसा भी! परन्तु उत्तम कोटि के मनुष्य धन या प्रशंसा नहीं वरन् सम्मान की ही आकांक्षा करते हैं; विशेषकर आत्मसम्मान ही उनकी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण होता है जिसे स्वाभिमान भी कहा जा सकता है।

इक्षुरापो पयो मूलं ताम्बुलं फलमौषधम्।
भक्षयित्वांपि कर्तव्या स्नान दानादिकाः क्रियाः।।(2)

अर्थ—ईख, जल, दूध, मूल (कन्द आदि) पान, फल और दवा इन सबको खाकर भी स्नान-दान आदि क्रियाएँ कर सकते हैं।।(2)

भाव— इन वस्तुओं को खाकर भी श्रेष्ठ कार्य करने में कोई दोष नहीं लगता है, क्योंकि उक्त वस्तुएँ अन्न में नहीं गिनी जातीं।

दीपो भक्षयन्ते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्ष्यते नित्यं जायते ताद्रशी प्रजा।।(3)

अर्थ—जैसे दीपक अंधकार को खाता है और काजल को पैदा करता है, उसी तरह मनुष्य सदा जैसा अन्न खाता है, वैसी ही उसकी सन्तान

होती हैं।। (3)

भाव—मनुष्य पर अन्न का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पड़ता है इसलिए भारतीय धर्मशास्त्रों में अन्न की शुद्धि का निर्देश है। कहा भी गया है जैसा अन्न वैसा मन। चाणक्य ने बड़े सुन्दर उदाहरण से इस शास्त्र निर्देश को व्यक्त किया है कि दीपक अंधकार को खाता और काजल को पैदा करता है इसी प्रकार मुनष्य जेसा अन्न खाता है वैसी उसकी सन्तान होती है। अन्न के सूक्ष्म संस्कार न केवल खाने वाले को वरन् उसकी पीढ़ी को भी प्रभावित करते हैं। शास्त्रों में अन्न को सात्विक, राजस तथा तामस तीन भागों में विभाजित किया गया है तथा आश्रय, निमित्त तथा जातिगत दोष अन्न के बताए गए हैं। ईमानदारी व परिश्रम की कमाई से आयु, बल, आरोग्य बढ़ाने वाले अन्न का सेवन ही मनुष्य के लिए हितकर है और सात्विक भोजन ही ग्राह्य है। अण्डा, मांस, मछली, शराब आदि गरिष्ठ भोजन की श्रेणी में आते हैं इसलिए इनसे दूर ही रहना चाहिए।

विन्तं देहि गुणान्वित्तेषु मतिमन्यान्यत्र देहि क्वचित
प्राप्तं वारिनिधेर्जलं धनमुख माधुर्ययुक्तं सदा।
जीवस्थावरजंगमाश्च सजलान संजीव्य भूमंडलं
भूयः पश्य तदेव कोटि गुणितं गच्छेत्स्वम म्वभोनिधम्।। (4)

अर्थ—हे बुद्धिमान पुरुष! धन को गुणियों को दो, दूसरी जगह कोई नहीं। देखो, समुद्र का जल मेघ के मुख में जाकर सदा मीठा हो जाता है और पृथ्वी के चर-अचर जीवों को और भूमण्डल को भी जीवनदान देकर करोड़ गुना होकर वही जल फिर अपने समुद्र में चला जाता है।। (4)

भाव—सुपात्र व्यक्ति को धन आदि जो भी अनुदान दिया जाता है वह उसका सदुपयोग कर कई गुना रूप में मेघ के समान वापस लौटाता है, मेघ समुद्र का जल लेकर उसे अपने स्वार्थ में नहीं लगाते बल्कि उससे सारी पृथ्वी को सींच कर उसे हरा-भरा बनाते हैं और अन्न, फल आदि का लाभ मानव समाज को प्रदान करते हैं। वही जल पृथ्वी से नदियों में मिलकर वापस समुद्र को मिल जाता है। आशय यह है कि गुणवान, व सुपात्र लोगों को ही आर्थिक सहायता देनी चाहिए क्योंकि वे उस अनुदान से सबका भला करते हुए देने वाले को भी लाभान्वित करते हैं।

चाण्डालानां सहस्त्रैश्च सूरिभिस्तत्वदर्शिभि।
एको हि यवनः प्रोक्तो न नीचो यवनात्परः।।(5)

अर्थ—तत्त्वदर्शी मुनियों ने कहा है कि हजारों चाण्डालों के बराबर एक यवन होता है। यवन से बढ़ कर कोई नीच नहीं है।। (5)

भाव—यहाँ तत्कालिक यवन आक्रमणकारियों से त्रस्त्र भारत-भूमि की दारुण दशा देखकर ही आचार्य चाणक्य ने यवनों को चांडाल कहा है। यहाँ यवन को आप अधर्मी भी कह सकते हैं, जिन्हें हिन्दू धर्म में आस्था नहीं है।

तैलाभ्यंगे चिताधूमे मैथुने क्षौरकर्मणि।
तावद्भवति चाण्डालो यावत्स्नानं न चाचरेत्।।(6)

अर्थ—तेल लगाने पर, चिता का धुआँ लगने पर, स्त्री-संभोग करने पर, बाल बनवाने पर मनुष्य तब तक चाण्डाल (अशुद्ध) रहता है जब तक वह स्नान न कर ले।। (6)

भाव—शरीर पर तेल लगाना, शवयात्रा से लौटने के बाद, मैथुनोपरान्त तथा बाल कटवाने के पश्चात बिना स्नान किए नहीं रहना चाहिए क्योंकि इन कार्यों के पश्चात मनुष्य अशुद्ध हो जाता है जिस का निवारण स्नान द्वारा होता है।

अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम्।
भोजने चामृतं वारि भोजनान्ते विषप्रदम्।।(7)

अर्थ—अपचन के समय पानी दवा है, पचने पर बल देने वाला है, भोजन के समय थोड़ा-थोड़ा जल अमृत के समान और भोजन के अन्त में विष के समान फल देता है।। (7)

भाव—आयुर्वेद में जल का बड़ा महत्त्व बताया गया है जिसका किंचित उल्लेख यहाँ चाणक्य ने करते हुए उसके उपयोग व उसके लाभ को प्रस्तुत किया है कि बदहजमी में जल औषधि के तुल्य है तथा भोजन के पचने पर बलवर्धक तथा भोजन के अन्त में विषतुल्य अर्थात् हानिकारक है, इसलिए जल को उपरोक्त प्रकार से स्वयं को स्वस्थ रखने में प्रयोग करना चाहिए।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हतश्चाज्ञानतो नरः।
हतं निर्नायकं सैन्यं स्त्रियो नष्टाह्यभर्तकाः।।(8)

अर्थ—बिना क्रिया के ज्ञान व्यर्थ है, ज्ञान हीन मनुष्य मरा-सा रहता है, सेनापति के बिना सेना नष्ट हो जाती है।। (8)

भाव—प्राप्त ज्ञान की सार्थकता क्रियारूप में परिणत होने पर ही है, अन्यथा ज्ञान का समग्र लाभ नहीं मिलता, प्रतीक रूप में देखा जाए तो ज्ञान सेनापति है तथा क्रिया सेना, दोनों का परस्पर समन्वय अपेक्षित परिणाम देता है।

वृद्धकाले च मृता भार्या बन्धुहस्तगतं धनम्।
भोजनं च पराधीनं तिस्त्रः पुँसां विडम्बना।।(9)

अर्थ—बुढ़ापे में स्त्री का मरना, बंधु के हाथ में चला गया धन और दूसरों के अधीन भोजन—ये तीनों पुरुषों के लिए दुखदायी हैं।। (9)

भाव—चाणक्य जीवन की दुःखपूर्ण परिस्थितियों की ओर संकेत करते हैं कि वृद्धावस्था में पत्नी की मृत्यु व्यक्ति के लिए दुखद है क्योंकि उसके बाद व्यक्ति नितान्त अकेला पड़ जाता है। स्वार्थी सम्बन्धी यदि धन हथिया ले तो जीवन बोझ बनना निश्चित है। तीसरी स्थिति दूसरों के अधीन भोजन करना है, जहाँ अपमानजनक व्यंग्य, उलाहने सुनने पड़ते हैं। ये तीनों परिस्थितियाँ वर्तमान का भी सच हैं, इसलिए हर किसी को इन परिस्थितियों की कल्पना करके पहले से उपाय कर लेना चाहिए।

अग्निहोत्रं विना वेदा न च दानं विना क्रियाः।
न भावेन विना बुद्धिस्तस्माद्भावो हि कारणम्।।(10)

अर्थ—अग्निहोत्र न करने वाले का वेद पढ़ना व्यर्थ है, बिना दान के यज्ञादि पूरे नहीं होते, बिना भाव के सिद्धि नहीं होती। इसलिए सबमें भाव (प्रेम) ही प्रधान हैं।। (10)

भाव—अग्निहोत्र एक भावना प्रधान पवित्र कृत्य है जिसका वर्णन वेदों में है व जिसे करना मनुष्य का कर्तव्य है। वेद को मात्र पुस्तक समझकर पढ़ लेना और उसमें वर्णित अग्निहोत्र आदि अनिवार्य कर्तव्यों की उपेक्षा करने का अर्थ है कि वेदों में छिपे भावों को ग्रहण नहीं किया गया, इसलिए वेदों का ऐसा पठन-पाठन व्यर्थ होता है। अग्निहोत्र, यज्ञादि कृत्य त्याग की प्रेरणा देता है जिसका प्रतीक यज्ञ पश्चात दिया गया दान है। इसके बिना ऐसे यज्ञादि अपूर्ण ही माने जाते हैं। साधना करने के पश्चात सिद्धि का विधान है

परन्तु साधना यदि भावशून्य है तो प्राणवान नहीं बनती। इसलिए उसकी सिद्धि सन्दिग्ध रहती है। अध्यात्म, ईश्वर भक्ति, ये सब श्रद्धा व भावना प्रधान विषय हैं जो प्रेम से उपजते हैं। इनके अभाव में सारी ईश्वर भक्ति आदि क्रियाएँ या चेष्टाएँ मात्र बनकर रह जाती हैं या पाखण्ड का रूप धारण कर लेती हैं।

काष्ठपाषाणधातुनां कृत्वा भावेन सेवनम्।
श्रद्धया च तथा सिद्धिस्तस्य विष्णोः प्रसादतः।।(11)

अर्थ—काष्ठ, पत्थर और धातुएँ सच्ची भावना (श्रद्धा) से सेवन करने पर वही सिद्धि मिलती है, जो श्री विष्णु भगवान के प्रसन्न होने पर मिलती है। अर्थात् ईश्वर व्यापक है, श्रद्धा चाहिए।। (11)

भाव—भारतीय धर्म में प्रतीक पूजा का विधान है जो भावना, श्रद्धा तथा ईश्वर प्रेम पर आधारित है। भगवान की प्रतिमा में उसे सजीव भगवान मानते हुए उससे प्रेम करने पर वही भावना श्रद्धा ईश्वर तक पहुँचा सकती है और ईश्वर प्राप्ति रूप सिद्धि मिलती है। यहाँ पक्ष यह भी है कि विष्णु अर्थात् परमात्मा जिस पर प्रसन्न होते हैं उसे ही परमात्मा को प्राप्ति सम्भव है किन्तु सच्ची भावना से की गई प्रतीक पूजा से भी ईश्वर प्रेम द्वारा ईश्वर तक पहुँचा जा सकता है, चाणक्य का यहाँ यही कथन है।

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये।
भावे ही विद्यते देवस्तस्माद्भावो ही कारणम।।(12)

अर्थ—देवता न तो काष्ठ (लकड़ी की मूर्ति) में हैं न पत्थर में न मिट्टी की मूर्ति में हैं, यह निश्चय है कि देवता भाव में ही रहते हैं, अतः भाव ही सबका कारण है।। (12)

भाव—काष्ठ, पत्थर, मिट्टी ये तीनों जड़ पदार्थ हैं किन्तु यदि इनमें जब देव-शक्तियों का आह्वान अथवा प्राणप्रतिष्ठा भावपूर्वक की जाती है तो ये चैतन्य हो उठती हैं। इसका मूल कारण मनुष्य की निश्छल, निर्मल आन्तरिक भावना है।

शान्तितुल्यं तपो नास्ति न संतोषात्परं सुखम।
न तृष्णायाः परो व्याधिर्न धर्मोदयासमः।।(13)

अर्थ—शान्ति के बराबर दूसरा तप नहीं, सन्तोष से बढ़ कर कोई सुख

नहीं, लालच से बड़ा कोई रोग नहीं और दया के बराबर कोई धर्म नहीं।। (13)

भाव—यहाँ चाणक्य ने तप, सुख, रोग तथा धर्म के विषय में बताया है। मनुष्य को अशान्ति, दुःख, रोग व कठोरता का वास्तविक कारण उसका लालच अथवा तृष्णा है। यदि वह लोभ का दुर्गुण त्याग दे तो वह इस तप से शान्ति और सन्तोष से सुख, निर्लोभता से निरोगी शरीर तथा दया से धर्म लाभ प्राप्त कर सकता है। सचमुच हमारी आन्तरिक निम्न वृत्तियाँ ही हमें अशान्त, दुःखी, कठोर व रोगी बनाती हैं। यदि तृष्णा की वृत्ति पर ही हमारा नियत्रंण हो जाए तो अनेक मानसिक व्याधियों से मुक्ति पाई जा सकती है।

क्रोधो वैवस्वतौ राजा तृष्णा वैतरणी नदी।
विद्या कामदुधा धेनुः सन्तोषो नन्दनं वनम्।।(14)

अर्थ—क्रोध यमराज की मूर्ति है, लालच वैतरणी नदी हैं, विद्या काम-धेनु है और सन्तोष इन्द्र के नन्दनवन जैसा सुख है।। (14)

भाव—चाणक्य ने क्रोध को यमराज की मूर्ति बताया है जो मृत्यु के देवता हैं अर्थात क्रोध साक्षात मृत्यु के समान है। शास्त्रों में वैतरणी नदी का वर्णन है जिसे पा करना बड़ा दुष्कर है तथा जिसमें मनुष्य डूब जाता है, वास्तव में लालच ही वैतरणी नदी का दूसरा रूप है जिसके वश में रहने वाला विपत्ति रूपी सागर को पार नहीं कर पाता। विद्या मनोवांछित फल देने वाली कामधेनु गाय है। अर्थात् विद्या प्राप्त व्यक्ति अपनी हर कामना को पूर्ण करने में समर्थ होता है। नन्दन वन स्वर्ग है जिसका राजा इन्द्र उसका सुख भोगता है, यदि सन्तोष का गुण अपनाया जाए तो इन्द्र के समान सुखी हुआ जा सकता है। यहाँ यहीं भाव है!

गुणो भूषयते रूपं शीलं भूषयते धनम्।
सिद्धिर्भूषयते विद्यां भोगो भूषयते धनम्।।(15)

अर्थ—गुण से रूप की शोभा, शील से कुल की शोभा, सिद्धि से विद्या की शोभा और भोग से धन की शोभा होती है।। (15)

भाव—गुण प्रत्येक का आभूषण है जिसके बिना रूप की शोभा पूर्ण नहीं होती, उच्च होते हुए भी व्यर्थ माना जाता है, विद्या के बाद यदि सिद्धि न मिले तो उस विद्या को व्यर्थ माना जाएगा क्योंकि बिना सिद्धि के विद्या किस

काम की! धन यदि सत्कार्यों में व दीन-दुखियों के अभाव दूर करने में व्यय हो तभी उसकी शोभा मानी जारी है अन्यथा धन विनाशकारी बन जाता है।

निर्गुणस्य हतं रूपं दुःशीलस्य हतं कुलम्।
असिद्धस्य हता विद्या अभोगेन हतं धनम्।।(16)

अर्थ—गुणहीन व्यक्ति की सुन्दरता व्यर्थ है, दुष्ट स्वभाव वाले का कुल नष्टप्राय है, जो सिद्ध नहीं हुआ उसकी विद्या व्यर्थ है, जिस धन का भोग नहीं किया गया, वह धन व्यर्थ है।। (16)

(यह श्लोक पूर्व श्लोक की भाँति है और इसमें वही भाव हैं।)

शुद्ध भूमिगतं तोयं शुद्धा नारी पतिव्रता।
शुचिक्षेम करो राजा सन्तुष्टो ब्राह्मणः शुचि।।(17)

अर्थ—भूमि के भीतर का पानी पवित्र होता है, पतिव्रता स्त्री पवित्र होती है, कल्याण करने वाला राजा पवित्र होता है और सन्तोषी ब्राह्मण पवित्र होता है।। (17)

भाव—बारिश का पानी आकाश से बरसता है परन्तु वह पीने योग्य नहीं होता, किन्तु धरती के भीतर कुएँ आदि का जल पिया जा सकता है, पतिव्रता नारी एक आदर्श नारी है क्योंकि उसमें कोई विकार नहीं हो सकता इसलिए वह पवित्र है, जो राजा प्रजा के हित, सुरक्षा व विकास में संलग्न रहे वह राजा पवित्र है क्योंकि उसकी भावना व विचार पवित्र हैं तभी तो वह लोक कल्याण के कार्यों में प्रवृत्त हो सका। लोभ एक विकार है, यदि वह किसी ब्राह्मण में है तो निश्चित ही वह संतुष्ट नहीं रहेगा, इसलिए सन्तोषी ब्राह्मण को ही पवित्र मानने का आशय यह है कि उसमें लोभ की अशुद्धता नहीं है।

असंतुष्टा द्विजा नष्टास्सन्तुष्टाश्च महीभुजः।
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलांगना।।(18)

अर्थ—सन्तोष न रखने वाला ब्राह्मण और सन्तोषी राजा नष्ट हो जाते हैं, लज्जाशील वेश्या और निर्लज्ज गृहिणी नष्ट हो जाती है।। (18)

भाव—ब्राह्मण को सन्तोष रखना अनिवार्य है अन्यथा लोभ आदि विकारों के वश में होने से वह अपने ब्राह्मण धर्म से गिरकर पतित यानि नष्ट हो सकता है किन्तु यह नियम राजा पर लागू नहीं होता, उसे अपने राजकोष

की स्थिति से संतुष्ट न रहते हुए उसे निरन्तर लोभी की तरह बढ़ाते रहना पड़ता है। यदि राजा सेना, राजकोष तथा राज्य की समृद्धि बढ़ाने में सन्तोषी बन गया तो राज्य का विकास एक ही जगह ठहर जाएगा। राजकोष घट सकता है। इसका लाभ कोई शत्रु उठाने में देर नहीं लगाएगा। वेश्या लज्जाशील होने से उपेक्षित व प्रताड़ित की जाने लगेगी क्योंकि यह उसकी निर्लज्जता की नियति के विपरीत आचरण है जो उसे नष्ट करके रहेगा। घरेलू महिला यदि लज्जाहीन होगी तो घर-परिवार, समाज उसकी निन्दा करेगा जो मरण व नष्ट होने के ही समान है।

किं कुलेन विशालेन विद्याहीने न देहिनाम।
दुष्कुलं चापि विदुषो देवैरपि सुपूज्यते।।(19)

अर्थ—विद्याहीन मनुष्यों के बड़े कुल से क्या लाभ? विद्वान का नीच कुल भी देवताओं से सम्मान पाता है।। (19)

भाव—विद्याविहीन व्यक्ति पशु के समान है, विद्वान व्यक्ति का ही महत्त्व है।

विद्वान प्रशस्यते लोके विद्वान सर्वत्र गौरवम्।
विद्यया लभते सर्व विद्या सर्वत्र पूज्यते।।(20)

अर्थ—संसार में विद्वान की ही प्रशंसा होती है, विद्वान ही सब जगह गौरव पाता है, विद्या से सब कुछ मिलता है, विद्या की पूजा सब जगह होती है।।(20)

भाव—विद्वान प्रशंसनीय है क्योंकि उसने ज्ञान की सम्पदा का अर्जन किया, उस पर सभी को गर्व होता है क्योंकि ज्ञान की शक्ति का प्रभाव सभी पर पड़ता हैं। विद्या एक धन है जिससे सब कुछ मिल सकता है। विद्या का आदर सब जगह होने से उसकी पूजा भी सब जगह होतो है।

रूप यौवन सम्पन्ना विशाल कुल संभवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुका।।(21)

अर्थ—सुन्दरता और युवावस्था से युक्त और अच्छे कुल में पैदा होते हुए भी विद्याहीन पुरुष गंधहीन पुष्प (पलाशादि) के समान शोभा (आदर) नहीं पाता।। (21)

भाव—व्यक्तित्व का सर्वश्रेष्ठ आभूषण विद्या है जिसके सामने

सुन्दरता युवावस्था तथा अच्छा कुल सभी फीके पड़ जाते हैं। विद्याहीन व्यक्तित्व सुगन्धहीन पुष्प के जैसा है जिससे व्यक्ति महत्त्वहीन हो उठता हैं अतः विद्या ही सर्वश्रेष्ठ गुण है।

मांस भक्षैः सुरापानैर्मूर्खैश्चाक्षर वर्जितैः।
पशुभिः पुरुषाकारैर्भाराक्रन्ताऽस्ति मेदिनी।। (22)

अर्थ—मांस खाने वालों, मदिरा पीने वालों और निरक्षर मूर्खों—इन पुरुष रूपधारी पशुओं के भार से पृथ्वी दुखी रहती है।। (22)

भाव—चाणक्य की दृष्टि में मांस-मदिरा का सेवन करने वाले तथा शिक्षा प्राप्त न करने वाले पुरुष पशु के समान हैं क्योंकि व्यसनी, अशिक्षित पुरुष पशुओं के समान आचरण से अन्यों को दुखी करता है, यही नहीं, ऐसे लोग पापाचरण से पृथ्वी के भार को बढ़ाने वाले होते हैं।

अन्नहीनो दहेद्राष्ट्रं मंत्रहीनश्च ऋत्विजः।
यजमानं दानहीनो नास्ति यज्ञ समो रिपुः।। (23)

अर्थ—अन्नहीन यज्ञ राजा को मंत्रहीन यज्ञ ऋत्विजों को और दानहीन यज्ञ यजमान को जलाता है। यज्ञ के समान कोई-शत्रु नहीं है।

भाव—राजा, ऋत्विज तथा यजमान को यज्ञ कार्य सावधानी से करना चाहिए।

नवाँ अध्याय

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषतान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवं दयां शोचं सत्वं पीयूषवत् पिव।।(1)

अर्थ—प्रिय! यदि मोक्ष चाहते हो तो विषयों को ऐसे त्याग दो जैसे विष को तथा सहनशक्ति, नम्रता, दया, पवित्रता और सत्यता को अमृत की तरह पियो।।(1)

भाव—मोक्षकामी पुरुष के लिए सांसारिक विषय विष के समान होते हैं अतः उन्हें त्यागने को कहा गया है। सांसारिक विषय मनुष्य को राग-द्वेष के द्वन्दों में फँसा देते हैं जिस कारण वह बन्धन में बँध जाता है और उसका मोक्षमार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इस मार्ग के लिए सहिष्णुता, विनम्रता, दया, पवित्रता और सत्य को अपनाना पड़ता है जो अमृत बन कर उसकी मुक्ति के पथ का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

परस्परस्य मर्माणि ये भाषन्ते नराधमाः।
त एव विलय यान्ति वल्मीकोदर सर्पवत्।।(2)

अर्थ—जो नीच व्यक्ति आपस की गुप्त बातों को कह देते हैं वे ही वल्मीक (वमी) के भीतर रहने वाले साँप के सरीखे नष्ट हो जाते हैं।।(2)

भाव—परस्पर की गुप्त बातों, रहस्यों को प्रकट करने वाले सदैव नष्ट होते हैं, बिल्कुल उस सर्प की तरह जो वल्मीक के भीतर रहता है और जिसे चींटियाँ धीरे-धीरे खाकर नष्ट कर डालती हैं।

गन्धं सुवर्णे फलमिक्षुदण्डे न कारि पुष्पं खलु चन्दनस्य।
विद्वान धनी भूपति दीर्घजीवी धातुः पुरा कोऽपि न बुद्धि दोऽ भूता।।(3)

अर्थ—यह निश्चित है कि ब्रह्मा को पहले कोई सन्मति देने वाला नहीं मिला जोकि उन्होंने सोने में सुगन्ध, ईख में फल, चन्दन में फल, विद्वान को

धनी और राजा को चिरंजीवी नहीं बनाया।। (3)

भाव—सृष्टि की हर वस्तु में गुण-दोष विद्यमान हैं जैसे सोना सुगंध रहित है, ईख फल हीन है, चन्दन के वृक्ष में भी फल नहीं लगते, विद्वान धनी नहीं होता, किन्तु विवेक शील पुरुष सदैव गुणों को ही ग्रहण करता है, अवगुणों की नहीं। अतः संसार में विवेक का आश्रय लेते हुए दूध का दूध और पानी का पानी वाली नीति अपनानी चाहिए।

सर्वौषधीनाममृता प्रधाना
सर्वेषु सौख्येष्वशनं प्रधानम्।
सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानं
सर्वेषु गात्रेषु शिरः प्रधानम्।।(4)

अर्थ—सभी औषधियों में गुरुचि उत्तम है, सब सुखों में भोजन मुख्य है, सभी इन्द्रियों में नेत्र प्रधान है और सारे शरीर में शिर श्रेष्ठ है।। (4)

भाव—अमृत से जीवन को अमरता प्राप्त होती है, भोज से शरीर पुष्ट होता है, तृप्ति मिलती हैं, नेत्रों के बिना सारा जीवन ही अंधकारमय हो जाता है और मस्तिष्क के बिना तो चिंतन ही असंभव है।। (4)

दूतो न सञ्चरति रवे न चलेच्च वार्ता
पूर्वं न जल्पित मिदं न च संगमोऽस्ति।
व्योम्नि स्थितं रविशशिग्रहणं प्रशस्तं
जानाति यो द्विजवरः स कथ न विद्वान।।(5)

अर्थ—जिसका दूत आकाश में नहीं घूमता, न तो ग्रहण की कोई बात ही चलती है, न तो पहले किसी से बताया गया और न कोई प्रकरण ही रहता है। तब भी आकाश में होने वाले चन्द्रमा और सूर्य के ग्रहण को स्पष्ट रूप से जानता है वह विद्वान क्यों नहीं?

भाव—भारत के विश्व को अनेक योगदान रहे हैं, कहना न होगा कि इन अनुदानों में ब्राह्मण वर्ग की अग्रणी भूमिका रही। इसी वर्ग ने भूगोल, खगोल, गणित, कला-कौशल के अनेक रहस्यों का पता लगाकर मनुष्य जाति की अप्रतिम सेवा की। चाणक्य इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि बिना आकाश में कोई दूत भेजे, न कोई प्रकारण के चन्द्र व सूर्य ग्रहण का पूर्व में पता लगा लेने वाला ब्राह्मण विद्वान या सम्मानित क्यों न माना जाए। अर्थात्

अवश्य माना जाना चाहिए।

विद्यार्थी सेवकः पान्थः क्षुधार्तो भय कातरः।
भाण्डारी प्रतिहारश्च सप्त सुप्तान प्रबोधयेत्।।(6)

अर्थ—विद्यार्थी, नौकर, पथिक, भूख से दुखी, भय से आतुर, भाण्डारी और द्वारपाल, इन सातों को सोते रहे तो जगा देना चाहिए।। (6)

भाव—विद्यार्थी यदि सोएगा तो पढ़ेगा कैसे? नौकर यदि सोएगा तो चोरी या डकैती हो सकती है। पथिक सोएगा तो लुट जाएगा। भूख से व्याकुल व्यक्ति को जगाकर भोजन करा देना चाहिए। भण्डार-गृह का स्वामी तथा द्वारपाल सोए रहेंगे तो चोरों का सेंध लगाने को अवसर मिल सकता है अतः इन सबको सावधान रहना चाहिए।

अहि नृपञ्च शार्दूलं कीटिञ्च बालकं तथा।
पर श्वानञ्च मूर्खं च सप्त सुप्तान्न बोधयेत्।।(7)

अर्थ—साँप, राजा, सिंह, बर्र, बच्चा, दूसरे का कुत्ता और मूर्ख, सोते हुए इन सातों को नहीं जगाना चाहिए।। (7)

भाव—ये सातों जागने पर हानि कर सकते हैं इसलिए इन्हें न जगाने की शिक्षा दी गई है।

अर्थाधीनाश्च ये वेदास्तथा शूद्रान्नभोजिनः।
ते द्विजाः किं करिष्यन्ति निर्विषा इनपन्नगाः।।(8)

अर्थ—धन के लिए वेद पढ़ाने वाले तथा शूद्रों के अन्न खाने वाले ब्राह्मण विषहीन साँप की तरह क्या कर सकते हैं?

भाव—वेदों के विद्वान ब्राह्मण को निष्काम भाव से वेदाध्ययन कराना चाहिए तथा किसी भी कुपात्र का अन्न नहीं खाना चाहिए।

यस्मिन् रुष्टे भयं नास्ति तुष्टे नैव धनागमः।
निग्रहोऽनुग्रहो नास्ति स रुष्टः किं करिष्यति।।(9)

अर्थ—जिसके रुष्ट हो जाने से डर नहीं है और संतुष्ट हो जाने से धन का लाभ नहीं है, जिसमें दण्ड देने या दया करने की सामर्थ्य नहीं है वह रुष्ट होकर क्या करेगा? (9)

भाव—रोष उसी व्यक्ति का प्रभावशाली है जिससे दूसरों को भय हो, तथा संतुष्ट होना उसका ही प्रभाव डालता है जिसके असंतुष्ट होने पर लाभ

की सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हों साथ ही दया करने और दण्डित करने की भी सामर्थ्य रखता हो।

निर्विषेणपि सर्पेण कर्तव्या महती फणा।
विषमस्तु न चाप्यस्तु फणाटोपो भयकरः।।(10)

अर्थ—विषहीन साँप को भी बड़े फन वाला होना चाहिए, क्योंकि विष रहे या नहीं किन्तु आडम्बर के लिए बड़ा फन भयानक होता है।। (10)

भाव—विषहीन साँप को देखकर यद्यपि सभी भयभीत हो जाते हैं तथापि कुछ अवसरों पर वह भी आक्रमण का शिकार हो सकता है किन्तु वह बड़े आकर का साँप है तो उसके पास भय से कोई भी नहीं फटक सकता। आशय यह है कि व्यक्ति को अपनी स्थिति व व्यवहार ऐसे रखने चाहिए कि उसको कमजोर समझकर कोई दबा न सके।

प्रातःद्यूतप्रसंगेन मध्याह्न स्त्री प्रसंगतः।
रात्रौ चौर प्रसंगेन कालो गच्छति धीमताम् ।।(11)

अर्थ—प्रातःकाल जुआरियों की कथा से, मध्याह्न स्त्री प्रसंग की कथा से तथा रात्रि चोर प्रसंग की कथा से विद्वानों का समय व्यतीत होता है।। (11)

भाव—विद्वानों का समय जुआरियों की कथा अर्थात् महाभारत, स्त्री प्रसंग की कथा अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण के लीला प्रसंग वाले ग्रन्थ श्रीमद् भागवत के कथन, श्रवण व स्वाध्याय में ही व्यतीत होता है।

स्वहस्तग्रथिता माला स्वहस्ताद घृष्टचन्दनम्।
स्वहस्तलिखितं स्तौत्र शक्रस्यापि श्रियं हरेत्।। (12)

अर्थ—अपने हाथ से गुथी हुई माला, अपने हाथ से घिसा गया चन्दन और अपने हाथ का लिखा स्तोत्र, ये सब अपने ही हित में लगाने से इन्द्र की भी लक्ष्मी नष्ट कर डालते हैं।। (12)

भाव—अपने स्वार्थ अथवा अहंकार की पूर्ति में ये तीनों ही कार्य मनुष्य को नष्ट कर देते हैं। चन्दन व माला दूसरों को सम्मानित करने के लिए प्रयोग हों तथा स्तोत्र की रचना भगवान के गुणगान में रचित हो तो मनुष्य सुखी व सम्पन्न बन सकता है अन्यथा स्वयं तक सीमित रहने पर इससे लक्ष्मी का क्षय होता है।

इक्षुदण्डस्तिलाः शूद्राः कान्ता हेय च मेदिनी।
चन्दन दधि ताम्बूलं मर्दन गुण वर्द्धनम्।।(13)

अर्थ—ईख, तिल, शूद्र (नीच), स्त्री, सोना, भूमि, चन्दन, दही और पान इन का मर्दन ही गुणकारी होता है।। (13)

भाव—उपरोक्त में हर कोई वस्तु या व्यक्ति मर्दन अर्थात् तपाने, जोतने, पेरने, मथने आदि से गुणवान बन जाते हैं।

दरिद्रता धीरतया विराजते कुवस्त्रता शुभ्रतया विराजते।
कदन्नता चोष्णतया विराजते, कुरूपता शीलयुता विराजते।।(14)

अर्थ—दरिद्रता के समय धैर्य रखना अच्छा है, गन्दे वस्त्र को साफ रखना अच्छा है, बासी भोजन गरम रहने पर अच्छा लगता है और कुरूप के लिए शील स्वभाव अच्छा है। अर्थात् धैर्य, सदुपयोग व शील रखना चाहिए।

दसवाँ अध्याय

धनहीनों न हीनश्च धनिकः स सुनिश्चयः।
विद्या रत्नेन यो हीनः स हीनः सर्ववस्तुषु।।(1)

अर्थ—निर्धन मनुष्य छोटा नहीं है, धनिक वही है जो अपने निश्चय पर दृढ़ है, परन्तु विद्यारूपी रत्न से जो हीन है वह सभी चीजों से हीन है।।(1)

भाव—विद्या का महत्त्व चाणक्य की दृष्टि में सर्वोपरि है। भले ही कोई निर्धन हो किन्तु विद्या प्राप्ति के लिए यदि वह दृढ़ निश्चय रखता है तो वह धनवान से कम नहीं है क्योंकि विद्या ऐसा रत्न है जिसे पाकर निर्धन भी धनवान बन जाता है।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
शास्त्रपूतं वदेद्वाक्यं मनः पूतं समाचरेत्।।(2)

अर्थ—भली प्रकार देखकर पैर धरना चाहिए, कपड़े से छानकर पानी पीना चाहिए, शास्त्र (व्याकारणादि) से शुद्ध कर बचन बोलना चाहिए और मन से विचार कर कार्य करना चाहिए।।(2)

भाव—चलना-फिरना, खाना-पीना, बोलना तथा कार्य करना आदि क्रियाओं में समझदारी रहना बुद्धिमान व्यक्ति के लक्षण हैं। ऐसा करने से व्यक्ति की छाप अनायास ही दूसरों पर पड़ती है और सम्मान बढ़ता है।

सुखार्थी चेत्यजेद्विद्यां विद्यार्थी चेत्यजेत्सुखम्।
सुखार्थिना कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम्।।(3)

अर्थ—यदि सुख चाहता है तो विद्या को छोड़ दे, यदि विद्या चाहता है तो सुख को छोड़ दे क्योंकि सुख चाहने वाले आलसी को विद्या कैसी? और विद्या चाहने वाले को सुख (आलस्य) कैसे हो सकता है।।(3)

भाव—विद्या प्राप्ति में आलस्य सबसे बड़ी बाधा है, यदि विद्या प्राप्त

दुर्जनं सज्जनं कर्तुमुपायो न हि भूतले।
अमान शतधा धौतं न श्रेष्ठमिन्द्रियं भवेत्।।(10)

अर्थ—दुष्ट को सज्जन बनाने का पृथ्वी पर कोई उपाय नहीं है, जैसे सैकड़ों बार धोया हुआ भी गुदा-स्थान उत्तम इन्द्रिय नहीं हो सकता।।(10)

भाव—दुष्ट व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति को नहीं बदल सकता और न ही उसे बदलने की कोई युक्ति काम आ सकती है, मल विसर्जन की इन्द्रिय कितनी पर शीतल व स्वच्छ जल से धोई जाती है फिर भी अशुद्ध ही रहती हैं।

आप्तद्वेषाद्भवेन्मृत्युं परद्वेषाद्धनक्षयः।
राजद्वेषाद्भवेन्नाशो ब्रह्मद्वेषात्कुलक्षयः।।(11)

अर्थ—आप्त (यथार्थवादी) के साथ वैर करने से मृत्यु होती है, पर (अन्य व शत्रु) के विरोध से धन नाश, राजा के विरोध से नाश और ब्राह्मण के वैर से कुल का नाश होता है।।(11)

भाव—आत्मद्वेषी की मृत्यु निश्चित है क्योंकि वह अपने ही विपरीत चलता है, दूसरे लोगों से वैर रखने वाला हठ में अपना समय व धन बरबाद कर बैठता है, राजा के विरोध से नष्ट होना ही पड़ता है साथ ही सबसे अधिक घातक ब्राह्मण अर्थात् विद्वान, विचारशील तथा बौद्धिक व्यक्ति से विरोध करना कुल के लिए घातक हो सकता है। अतः वैर-विरोध की नीति न अपनाकर प्रेम, सौहार्द तथा मित्रता की नीति यथासम्भव अपनानी चाहिए।

वरं वनं व्याघ्रगजेंद्र सेवितं
द्रुमालयं पक्व फलाम्बुसेवनम्।
तृणेषु शय्या शतजीर्ण वल्कलं
न बंधुमध्ये धनहीन जीवनम्।।(12)

अर्थ—बाघ और बड़े-बड़े हाथियों वाले वन में वृक्ष का कोट रूपी घर अच्छा है, पके फलों को खाना, जल का पीना, तिनकों पर सोना, पेड़ों के छिलके पहनना उत्तम है, परन्तु अपने भाई-बन्धु के बीच दरिद्र होकर जीना अच्छा नहीं है।।(12)

भाव—चाणक्य निर्धनता का अभिशाप और धन के महत्त्व को प्रकट करते हुए कहते हैं दीनता, दरिद्रता हर तरह खराब है, विशेषकर अपने

सम्बन्धियों के बीच दीन दशा में रहना और भी मर्मान्तक है। इससे अच्छा है कि वन में वृक्ष-कोटरों में घर बनाकर रह लिया जाए और तिनकों पर सो लिया जाए, वहाँ फल खाकर गुजर बसर करके जीवन बिताया जाय, परन्तु अपनों के बीच विपन्न स्थिति में न रहा जाए।

विदो वृक्षस्तस्य मूलञ्च सन्ध्या
वेदाः शाखा धर्म कर्माणि पत्रम्।
तन्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयम
छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम।।(13)

अर्थ—ब्राह्मण वृक्ष है, संध्या उनकी जड़ हैं, वेद शाखाएँ हैं, धर्म तथा कर्म पत्ते हैं, इसलिएं ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि (संन्ध्या की) रक्षा करें क्योंकि जड़ के कट जाने पर पेड़ के पत्ते व शाखाएँ नहीं रह जातीं।। (13)

भाव—उपासना, साधना करना ब्राह्मण की शक्ति है क्योंकि इसी के बल वह मेधावी तथा प्रज्ञा सम्पन्न बनता है, सद्बुद्धि की आराधना संध्या के माध्यम से करके ब्राह्मण को वेद के अर्थ, धर्म, कर्म के रहस्य समझ में आते हैं। ऐसा ब्राह्मण समाज में पूजनीय बन जाता है। इसी प्रकार के दैवी सम्पदा से भरपूर ब्राह्मणों की इस युग को आवश्यकता है।

माता च कमला देवी पितो देवो जनार्दनः।
बान्धवा विष्णु भक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्।।(14)

अर्थ—जिसकी माता लक्ष्मी देवी हैं, पिता विष्णुदेव हैं, विष्णु के भक्त भाई-बन्धु हैं, उनके लिए तीनों ही लोक अपना ही देश हैं। अर्थात् वे सबको आत्मवत् देखते व सभी उनके वश में हैं।। (14)

भाव—माता लक्ष्मी विश्वमाता हैं तथा भगवान विष्णु जगत्पिता हैं अर्थात् ईश्वर तथा उसकी शक्ति ही जिस मनुष्य के माता-पिता हैं तथा आस्तिक भक्त जिसके भाई-बन्धु हैं उसके लिए सम्पूर्ण विश्व ही नहीं वरन् आकाश, पाताल तथा पृथ्वी ही एक परिवार के समान है, वे सभी को अपना समझने वाले पुरुष सबको अपने वश में कर लेते हैं। वस्तुतः प्राचीन ऋषि, ब्राह्मणों का यही धर्म भी था।

एकवृक्षासमारूढ़ा नाना वर्णा विहंगमाः।
प्रभाते दिक्षु दशसु का तत्र परिवेदना।।(15)

अर्थ—रात्रि में एक वृक्ष पर रहने वाले भी अनेक तरह के पक्षी प्रातः-काल दशों दिशाओं में निश्चिन्त उड़ जाते हैं।। (15)

भाव—इस संसार में आना-जाना एक शाश्वत सत्य है। एक वृक्ष पर रंग-बिरंगे पक्षी कुछ समय डाल पर बिताने के पश्चात उड़ जाते हैं। भाव यह है कि संसार में भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिए क्योंकि यहाँ आना-जाना लगा रहता है।

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेश्च कुतो बलम्।
वने सिंहो मदोन्मत्तो शशकेन निपातितः।।(16)

अर्थ—जो बुद्धिमान है वही बली है, बुद्धिहीन को बल कहाँ? जैसे वन में सिंह अहंकारी होने के कारण गीदड़ से मारा गया। (16)

भाव—पंचतंत्र में यह कथा आई है, जिसमें खरगोश अपनी चतुराई से सिंह की परछाईं कुएँ में दिखाकर परछाईं को उसका प्रतिद्वन्द्वी बता देता है। सिंह कुएँ में उस पर छलांग लगा देता है और कुएँ में डूबकर मर जाता हैं। अर्थात् बुद्धि, बल से बड़ी है। बुद्धि के द्वारा ताकतवर मनुष्य को भी पराजित किया जा सकता है।

का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते
नो चेदर्भक जीवनाय जननीस्तन्यं कथं निः सरेत।
इत्यालोच्य मुहुर्मुहुर्यतेदुपते लक्ष्मीपते केवलं
त्वत्पादाम्बुज सेवनेन सततं कालोमया नीयते।।(17)

अर्थ—यदि भगवान को विश्व का भरण-पोषण करने वाला कहा जाता हैं तो हमें अपने जीने की क्या चिता है? यदि वे रक्षक न होते तो बच्चों के जीवनार्थ माता के स्तन से दूध क्यों निकलता? यह बारम्बार सोचकर हे कृष्ण! हे विष्णु! मैं आपके चरण कमलों की सेवा में समय बिताता हूँ।। (17)

भाव—इस चराचर विश्व का भरण-पोषण ईश्वरीय सत्ता ही करती है इसी सत्य को व्यक्त करते हुए चाणक्य का कथन है कि केवल उदरपूर्ति के लिए अमूल्य जीवन को नहीं खपाना चाहिए वरन् ईश्वर की आराधना व उनका नाम लेते हुए उनकी शरण में रहकर प्राणिमात्र की सेवा करनी चाहिए।

गीर्वाणवाणीषु विशिष्ट बुद्धि—
स्तथापि भाषान्तर लोलुपोऽहम्।

यथा सुराणाममृते च सेविते
स्वर्गांगनानाम धरासवे रुचिः।।(18)

अर्थ—यद्यपि मेरी बुद्धि देववाणी (संस्कृत) में उत्तम है तब भी मैं दूसरी भाषा का लोभी हूँ, जैसे अमृत पीने पर भी देवताओं की इच्छा स्वर्ग की स्त्रियों के ओष्ठ रूपी मद्य पीने को रहती है।। (18)

भाव—चाणक्य का यहाँ अभिप्राय यह है कि भले ही आप किसी श्रेष्ठ भाषा में पारंगत हों, पर दूसरी अन्य भाषाओं को जानने और समझने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए, इससे ज्ञान का विस्तार होता है।

अन्नाद्दशगुणं पिष्टं पिष्टाद्दशगुणं पयः।
दुग्धाद्दशगुणं मांसं मासांद्दश गुणं घृतम्।।(19)

अर्थ—चावल से दसगुणा गेहूँ का आटा, आटे से दसगुना दूध, दूध से दसगुना मांस और मांस से दसगुना गुणकारी घी होता है।। (19)

भाव—शाकाहारी खाद्य वस्तुओं में मांस में अधिक पौष्टिकता तथा गुण होते हैं अतः मांस खाने वालों को घृत के सेवन का अभ्यास डालना चाहिए, लेकिन आज दालें तथा सूखे मेवे मांस की मूर्ति कर सकते हैं। उनमें भी प्रोटीन काफी मात्रा में मिलता है।

शाकेन रोगा वर्धन्ते पयसा वर्धते तनुः।
घृतेन वर्धते वीर्यं मांसान्मासं प्रवर्धते।।(20)

अर्थ—साग खाने से रोग बढ़ते हैं, दूध से शरीर बढ़ता है, घी से वीर्य बढ़ता है और मांस से मांस बढ़ता है।। (20)

भाव—यहाँ सारांश यह है कि भोजन में घी-दूध का सेवन (प्रयोग) उत्तम है।

ग्यारहवाँ अध्याय

दातृत्व प्रिय वक्तृत्वं धीरत्वमुचितज्ञता।
अभ्यासेन न लभ्यन्ते चत्वारः सहजा गुणाः।(1)

अर्थ—दान देने का स्वभाव, मीठी बोली, धीरता और उचित की जानकारी ये सब अभ्यास से नहीं होते वरन् स्वाभाविक गुण हैं।। (1)

भाव—मनुष्य की कुछ विशेषताएँ जन्मजात अथवा स्वभावगत होती हैं, दान वृत्ति, मधुर वाणी, धैर्य तथा विवेक इन गुणों को अभ्यास से नहीं प्राप्त किया जाता बल्कि ये संस्कारगत अथवा जन्मजात ही होती हैं और इनका विकास आयु बढ़ने के साथ-साथ हुआ करता है।

आत्मवर्गं परित्यज्य परवर्गं समाश्रयेत्।
स्वमेवं लयं याति कथा राज्यमधर्मत्।।(2)

अर्थ—जो अपने वर्ग को छोड़कर दूसरे वर्ग का आश्रम करता है वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है, जैसे पाप से राज्य का नाश होता है।। (2)

भाव—मनुष्य का गुजास अपनों के बीच ही उचित रहता है, यदि वह दूसरे वर्ग पर आश्रित हो जाए तो माना जाना चाहिए कि उसने स्वयं के विनाश का प्रबन्ध कर लिया क्योंकि जो अनुकूलताएँ अपने वर्ग में रहती हैं वे दूसरे वर्ग में नहीं मिलतीं। अपनों के साथ पीड़ाएँ और कष्ट साँझी होते हैं, दूसरों के साथ नहीं, अतः पराए वर्ग पर आश्रित व्यक्ति का नष्ट हो जाना स्वाभाविक हैं। यहाँ उदाहरण पाप से राज्य के नष्ट होने का दिया गया है। अर्थात् जिस प्रकार पाप राज्य व्यवस्था को नष्ट करता है उसी प्रकार अन्यान्य का आश्रय भी मुनष्य को नष्ट करता है।

हस्ती स्थूलतनुः स चांकुशवशः कि हस्तिमात्रोअंकुशः।
दीपेप्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः।।

वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रं नगा-
स्तेजो यस्य विराजते स बलवान स्थूलेषु कः प्रत्ययः।।(3)

अर्थ—हाथी मोटे शरीर वाला है पर अंकुश के वश में रहता है। क्या अंकुश हाथी के बराबर का है? दीपक के जलने पर अंधकार नष्ट हो जाता हैं, क्या अंधकार दीपक के ही बराबर है? वज्र से भी मारे गए पर्वत गिर जाते हैं, क्या पर्वत वज्र के ही तुल्य है, सत्यता यह है कि जिसका तेज चमकता रहता है वही बली है, मोटेपन से क्या होता है।। (3)

भाव—किसी के आकार के आधार पर उसे शक्तिशाली नहीं माना जाता वरन् शक्ति साहस में होती है।

कलौदशसहस्त्राणि हरिस्त्यजति मेदिनीम।
तदर्धं जाह्नवितोयं तदर्धं ग्रामदेवताः।(4)

अर्थ—कलियुग के दस हजार वर्ष बीतने पर विष्णु भगवान इस पृथ्वी को छोड़ देते हैं, उसके आधा बीतने पर गंगाजी जल को, उसके आधे पर गाँव के देवी-देवता भी पृथ्वी को छोड़ देते हैं।। (4)

भाव—कलियुग के दस हजार वर्ष बीतने के बाद इस धरती से जीवनयापन के सभी समुचित साधन नष्ट हो जाएँगे और दस हजार के आधे अर्थात् अगले पाँच हजार वर्ष बीतने पर पापों का नाश करके मन को पवित्र करने वाली गंगा का जल भी समाप्त हो जाएगा और फिर उसके आधे अर्थात् अगले ढाई हजार साल बीतने पर धरती की कृषिभूमि भी नष्ट जो जाएगी अर्थात् कलियुग के साढ़े सत्रह हजार वर्ष बीत जाने पर पुनः प्रलय होगी और यह धरती जल में डूब जाएगी।

गृहासक्तस्य नो विद्या न दया मांसभोजिनः।
द्रव्यलुब्धस्य नो सत्यं न स्त्रैणस्य पवित्रता। (5)

अर्थ—गृहस्थ में लिप्त (आसक्त) व्यक्ति को विद्या नहीं आती, मांस खाने वाले को दया नहीं आती, धन के लालची में सत्यता नहीं होती और स्त्री में आसक्त को पवित्रता नहीं होती।। (5)

भाव—यदि कोई अपने घर-बार में लिप्त और चिंतित है तो वह पढ़ाई-लिखाई या शिक्षा के क्षेत्र में उन्नति नहीं कर सकता। इसलिए प्राचीन समय में घर से बाहर रहकर शिक्षा की व्यवस्था थी। मांस खाने वाले में

पाशविकता की वृद्धि होती है जिससे उसमें दया, करुणा जैसे गुण नहीं रह पाते। धन का लोभी पैसे के लिए कुछ भी और कभी भी झूठ बोल सकता है क्योंकि उसकी दृष्टि में धन बड़ी वस्तु हैं सत्यासत्य नहीं। स्त्री में आसक्त रहने वाला आन्तरिक पवित्रता के प्रति सचेष्ट नहीं रहता। तात्पर्य यह कि विद्या की प्राप्ति यानि सुशिक्षित बना जाए, चाहे घर-गृहस्थी भी त्यागनी पड़े। भोजन में मांसाहारी नहीं वरन् शाकाहारी रहा जाए। धन के लोभी न बनें और स्त्री के प्रति पवित्र भाव रखें।

न दुर्जनः साधुदशामुपैति
बहुप्रकारैपि शिक्ष्यमाणः।
आमूलसक्तिः पयसा घृतेन
न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति। (6)

अर्थ—अनेक प्रकार से सिखलाया गया भी दुष्ट मनुष्य बड़प्पन को नहीं पहुँचता, दूध तथा घी से जड़ तक भी सींचा गया नीम का पेड़ मीठेपन को नहीं पाता है।

भाव—चाणक्य का कथन है कि दुष्ट मनुष्य सदैव ओछा ही रहता है, समझाने या उपदेश का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जैसे नीम के पेड़ को जड़ तक चाहे दूध से सींचो या घी से, उसकी कड़वाहट वैसी की वैसी बनी रहती है।

अन्तर्गतमलो दुष्टस्तीर्थस्नान शतैरपि।
न शुद्ध यति तथा भाण्डं सुराया दाहितं च तत्। (7)

अर्थ—मलिन हृदय दुष्ट मनुष्य सैकड़ों तीर्थ-स्नान करने पर भी शुद्ध नहीं होता, जैसे मदिरा का बर्तन जलाने पर भी शुद्ध नहीं होता।। (7)

भाव—अपने पूर्व के संस्कारों का प्रभाव मनुष्य का चरित्र बन जाता हैं, यदि निकृष्ट विचार-संस्कार भारी मात्रा में चित्र पर अंकित हैं तो वे जल्दी शुद्ध नहीं होते। ऐसा व्यक्ति दुष्ट प्रकृति व मलिन हृदय का होता है जिसे सैकड़ों तीर्थ भी पवित्र नहीं बना पाते।

न वेत्ति यो यस्य गुण प्रकर्ष
स तं सदा निन्दति नाऽत्र चित्रम्।

यथा किराती करिकुम्भलब्धां
मुक्तां परित्यज्य विभर्ति गुञ्जाम। (8)

अर्थ—इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि जो जिसके गुण-महत्ता को नहीं जानता है, वह उसकी सदा निन्दा करता है। जैसे जंगली भीलनी हाथी के गण्डस्थल से मिली हुई मुक्ता (मोती) को छोड़कर गुंजाफल को पहनती हैं। (8)

भाव—पारखी ही किसी वस्तु के महत्त्व को समझता है। जैसे जंगल में रहने वाली भीलनी हाथी के मस्तक से प्राप्त होने वाले बहुमूल्य काले मोती को छोड़कर लाल रत्तियों की माला पहनती है क्योंकि वह उस मोती के महत्त्व को नहीं जानती। इसी प्रकार हर कोई गुणों को नहीं जान पाता। जौहरी ही रत्नों की पहचान करता है।

ये तु संवत्सरं पूर्णं नित्यं मौनेन भोज्यते।
युग कोटि सहस्त्रं ते पूज्यन्ते स्वर्ग विष्टपे। (9)

अर्थ—जो प्रतिदिन पूरे संवत भर मौन रहकर भोजन करते हैं वे हजारों-करोड़ों युगों तक स्वर्ग में पूजे जाते हैं।

भाव—भोजन के नियम हैं कि उस समय शान्त व मौन रहा जाए और जो भी प्राप्त हो उससे संतुष्ट रहा जाए। ऐसा करने से स्वर्ग के सुख की अनुभूति होने लगती है। चाणक्य का आशय है भोजन के प्रति नियम, संयम, संतोष का भाव रखा जाए।

कामं क्रोधं तथा लोभं स्वादं श्रृंगार कौतुके।
अतिनिद्राऽति सेवा च विद्यार्थी ह्यष्ट वर्जयेत्। (10)

अर्थ—व्यभिचार, क्रोध, लोभ, जीभ आदि का स्वाद, श्रृंगार, खेल, अत्यन्त सोना और अत्यन्त सेवा—विद्यार्थी इन आठों का त्याग करे।। (10)

भाव—विद्यार्थी के लिए उपर्युक्त चीजें त्यागने के बाद ही उसे विद्या प्राप्त हो सकतीं हैं इसीलिए चाणक्य इन अवगुणों को त्यागने का उपदेश कर रहे हैं।

अकृष्टफल मूलानि बनवासरतिः सदा।
कुरूतेऽहरहः श्राद्धमृषिर्विप्रः स उच्यते। (11)

अर्थ—बिना जोते हुए खेत से उत्पन्न फल-मूल का खाने वाला, निरन्तर वन से प्रेम रखने वाला और श्राद्ध करने वाला ब्राह्मण ऋषि कहा जाता

है।। (11)

भाव—ब्राह्मण को त्यागी-तपस्वी बनकर रहना पड़ता है। जो ब्राह्मण उपर्युक्त नियमों के पालन में तत्पर रहता है वह ऋषि के पद को प्राप्त कर लेता है।

एकाहारेण सन्तुष्टः षटकर्मनिरतः सदा।
ऋतु कालाभिगामी च स विप्रो द्विज उच्यते। (12)

अर्थ—एक बार के भोजन से सन्तुष्ट छह कर्मों (यज्ञ करना, यज्ञ कराना, पढ़ना-पढ़ाना, दान देना, दान लेना) में सदा लगा रहने वाला अपनी स्त्री से ऋतु स्नान के पश्चात प्रसंग करने वाला ब्राह्मण द्विज कहा जाता है।। (12)

भाव—उपर्युक्त छह धर्म ब्राह्मण के लिए हैं, ब्राह्मण इन्हीं आचारों के आधार पर ब्राह्मण कहा जाता है।

लौकिके कर्मणि रतः पशूनां परिपालकः।
वाणिज्यकृषिकर्ता यः स विप्रो वैश्य उच्यते। (13)

अर्थ—जो दुनिया के कार्यों में लगा रहता है, पशुओं का पालन करने वाला है और व्यापार तथा खेती करता है ऐसा ब्राह्मण वैश्य कहा जाता है।। (13)

भाव—सांसारिक कार्य तथा पशुपालन, व्यापार, खेती ये ब्राह्मण के कर्म नहीं हैं। यदि कोई ब्राह्मण इन कार्यों को करता है तो वह वैश्य वर्ण में माना जाता है। ब्राह्मण के कर्म ऊपर के श्लोकों में बताए गए हैं। यहाँ वर्णाश्रम के विषय में चाणक्य का अभिप्राय यही है कि वर्णाश्रम व्यवस्था कर्म पर आधारित है।

लाक्षादितैलनीलानां कौसुम्भममधुसर्पिषाम्।
विक्रेता मद्यमांसानां स विप्रः शूद्र उच्यते। (14)

अर्थ—लाख आदि तथा तिल, तेल, फूल, मधु, घी, मदिरा, मांस इन सबको बेचने वाला ब्राह्मण शूद्र (नीच) कहा जाता है।। (14)

भाव—ब्राह्मण किन स्थितियों में शूद्र हो जाता है यही इस श्लोक का भाव है।

परकार्य विहन्ता च दाम्भिकः स्वार्थ साधकः।
छली द्वेषी मृदुः क्रूरो विप्रो मार्जार उच्यते। (15)

अर्थ—दूसरे का कार्य नष्ट करने वाला, घमण्डी, स्वार्थी, कपटी,

झगड़ालू, ऊपर से कोमल और अन्दर से निष्ठुर ब्राह्मण बिलार कहा जाता है।। (15)

भाव—यदि ब्राह्मण स्वार्थ, घमण्ड तथा कठोरता, पाखण्ड, झगड़ालूपन से किसी का कार्य बिगाड़े तो वह ब्राह्मण नहीं है बल्कि नरबिलाव अर्थात् पशु श्रेणी का है।

वापी कूप तड़ागा नामा राम सुरवेश्मनाम।
उच्छेदने निराशंकः स विप्रो म्लेच्छ उच्यते। (16)

अर्थ—बावड़ी, कुआँ, तालाब, बगीचा और देव मन्दिर को निर्भय होकर तोड़ने वाला ब्राह्मण म्लेच्छ कहा जाता है।। (16)

भाव—विदेशी आक्रमणकारियों को प्रायः म्लेच्छ कहा जाता रहा है। उन्होंने मन्दिर, बावड़ी तथा लोक कल्याणकारी संस्थानों को क्षति पहुँचाई। इसलिए यदि ब्राह्मण भी उनकी तरह निकृष्ट कार्य करने लगे तो वह म्लेच्छ ही कहाने योग्य है।

देवद्रव्य गुरुद्रव्य पर दाराभिमर्षणम्।
निर्वाहः सर्वभूतेषु विप्र चाण्डाल उच्यते। (17)

अर्थ---देवता का धन, गुरु का धन, परस्त्रीगामी तथा सभी जीवों में निर्वाह करने (अर्थात् सबका अन्न खाने) वाला ब्राह्मण चाण्डाल कहा जाता है।। (17)

भाव—देवमन्दिरों का धन अर्थात् मन्दिर के कोष में हेराफेरी से धन को हड़पने वाला, पराई स्त्रियों पर कुदृष्टि रखने वाला और जिस-तिस के अन्न पर निर्वाह करने वाला ब्राह्मण कहाने योग्य नहीं होता वरन् अपने दुष्कर्म के कारण चाण्डाल श्रेणी में माना जाता है।

देयं भोज्यधनं सदा सुकृतिभिनौ संचयस्तस्य वै
श्री कर्णस्य बलेश्च विक्रम पतेरद्यापि कीर्तिः स्थिता।
अस्माकं मधुदान भोग रहितं नष्टं चिरात्संचितं
निर्वाणादिति नैजपादयुगलं घर्षन्त्यहो माक्षिकाः। (18)

अर्थ—अच्छे लोगों को चाहिए कि भोजन सामग्री तथा धन सदा दान करते रहें, उसे इकट्ठा न करें। राजा कर्ण और बलि की कीर्ति आज भी है, और मधुमक्खियाँ सोचती हैं कि हमारा बहुत दिनों से इकट्ठा किया हुआ

ब्राह्मण का जीवन निर्वाह यद्यपि समाज द्वारा भी होना चाहिए, इतने पर भी यद्यपि लोक-सेवी ब्राह्मण दु:खी रहे तो राज्यसत्ता को यह व्यवस्था सँभाल लेनी चाहिए क्योंकि समाज में ब्राह्मण की भूमिका ऐसे संगठन की होती है जो निस्वार्थ भाव से समाज में जागृति लाने तथा समाज का नैतिक स्तर बनाने में पूर्ण-कालिक रूप से लगा रहता है। यदि ऐसे ब्राह्मण की राज्य सहायता करे तो बदले में राजा, राज्य, समाज सभी को कई गुना लाभ होता है, यहाँ यही अभिप्राय समझना चाहिए।

दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने शाठ्य सदा दुर्जने,
प्रीतिः साधुजने स्मयः खलजने विद्वज्जने चार्जवम्।
शौर्य शत्रुजने क्षमा गुरुजने नीराजने धूर्तता,
इत्थं ये पुरुषाः कलासु कुशलस्तेष्वेव लोकस्थितिः।(3)

अर्थ—जो व्यक्ति अपने वर्ग में उदारता, दूसरे वर्ग पर दया, दुर्जन वर्ग में शठता, उत्तम पुरुषों में प्रेम, दुष्टों में सावधानी पंडित वर्ग में शालीनता, वैरियों में वीरता, अपने से बड़ों में सहन शक्ति, स्त्री वर्ग में धूर्तता आदि कलाओं में चतुर है, उन्हीं लोगों से संसार की मर्यादा है।। (3)

भाव—जो व्यक्ति अपने तथा दूसरे वर्ग, दुर्जन, दुष्ट, विद्वान स्त्री, अपने से बड़े आदि से यथायोग्य व्यवहार में चतुर हों वे लोग ही संसार में मर्यादा, शील आदि की रक्षा कर सकते हैं।

हस्तौ दान विवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारस्वत द्रोहिणौ
नेत्रे साधुविलोकनेन रहिते पादौन तीर्थ गतौ।
अन्यायार्जित वित्तपूर्ण मुदरं गर्वेण तुंग शिरो,
रे रे जम्बुक! मुंच मुंच सहसा नीचं सुनिन्द्यं वपुः।(4)

अर्थ—दोनों हाथ दान देने से रहित और दोनों कान वेद-शास्त्र क विरोधी, अर्थात् कानों से हरिकथा नहीं सुनी, दोनों नेत्र महात्माओं के दर्शन से वंचित और दोनों पैरों से तीर्थ यात्रादि न किए, केवल अन्याय द्वारा कमाए गए धन से पेट भर-भर कर घमण्ड से ऊँचा सिर करने वाले हे रंगीले सियार! निन्दा के योग्य इस नीच शरीर को छोड़ दे।। (4)

भाव—जो व्यक्ति दया दान धर्म से वंचित होकर गलत तरीके से कमाए धन पर अहंकार करके इतराता है, वह नीच है। ऐसे व्यक्ति को अपने

शरीर से मोह नहीं करना चाहिए। भाव यह है कि मनुष्य को इस शरीर से अच्छे कर्म करने चाहिए।

येषां श्रीमद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिर्नराणां,
योषामा भीर कन्याप्रिय गुण कथने नानु रक्ता रसज्ञाः।
येषां श्री कृष्ण लीलाललित रस कथा सादरौ नैव कर्णौ,
धिक्तार्धिकतार्धिगेतान कथयति सततं कीर्तनस्थो मृदंग।(5)

अर्थ— जिनकी भक्ति श्रीमान यशोदा के पुत्र (श्रीकृष्ण चन्द्र) के चरणकमलों में नहीं है, जिनकी जीभ अहीरों की कन्याओं के प्रिय (गोविन्द) के गुणगान में नहीं है, जिनके कान परमानन्द स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र जी की लीला तथा सुहावनी रसमयी कथा को आदरपूर्वक सुनने में नहीं है, ऐसे लोगों को कीर्तन का मृदंग धिक्तान धिक्तान धिक्तान (उनको धिक्कार है! धिक्कार है!! धिककार है!!!) ऐसा सदा कहता है।। (5)

भाव—चाणक्य का भाव यहाँ ईश्वर के प्रेम का प्रतिपादन करने के प्रति है कि यदि किसी व्यक्ति में ईश्वर प्रेम नहीं है तो वह रसहीन हृदय रखने वाला है, भाव संवेदनाओं से रहित ऐसे मनुस्य धिक्कारने योग्य हैं! मृदंग का उल्लेख करके इसी का संकेत किया गया है।

पत्रं नैव यदा करीर विटपे दोषो वसं तस्य किं
नीलू कोप्यवलोकते यदि दिवा सूर्य्यस्य किं दूषणम्।
वर्षा नैव पतति चातक मुखे मेघस्य किं दूषणं
यत्पूर्व विधि ललाट लिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः।(6)

अर्थ—वसंत ऋतु में सभी वृक्ष पल्लवित-पुष्पित होते हैं, किन्तु यदि करील में पत्ता नहीं होता तो वसंत का क्या दोष? सूर्य सबके प्रकाशक हैं, परन्तु दिन में उल्लू को नहीं दिखाई देता तो सूर्य का क्या दोष है? इसी प्रकार वर्षा यदि चातक के मुख में नहीं पड़ती तो मेघ का क्या दोष है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पहले जो ब्रह्मा ने ललाट में लिख दिया है उसे कौन मिटा सकता है।। (6)

भाव—वसंत में जब प्रकृति में हरियाली छाई रहती है उस समय करील पर पत्ता भी नहीं होता, सूर्य के प्रकाश में उल्लू को नहीं दिखता, वर्षा का जल चातक के मुख में नहीं पड़ता; इसका कारण यह है कि प्रकृति ने

करील, उल्लू तथा चातक की यही नियति निर्धारित की है, अर्थात् प्रकृति का निर्धारण ही अटल है।

सत्संगाद्भवति हि साधुता खलानां
साधूनां न हि खल संगते खलत्वम्।
आमोदं कुसुमभवं मृदेव धत्ते
मृद्गंध न हि कुसुमानि धारयन्ति।(7)

अर्थ—यह निश्चय है कि दुष्टों में साधुता अच्छी संगति से ही आती है, दुष्टों के संग से भी उत्तम लोग नीच नहीं होते जैसे फूल की सुगंध को मिट्टी ग्रहण कर लेती न कि मिट्टी की गंध फूल ग्रहण करता है।। (7)

भाव—मनुष्य का व्यक्तित्व संगति तथा वातावरण से अवश्य प्रभावित होता है, यदि दुष्ट व्यक्ति भी शालीन व सज्जन लोगों में रहे तो उसके विचार व व्यक्तित्व में अवश्य परिवर्तन आएगा, इसके अतिरिक्त साधुता व सज्जनता के संस्कार बुरे संस्कारों की अपेक्षा अधिक गहरे तथा शक्तिशाली होते हैं इसलिए यदि कोई सत्पुरुष व्यक्ति दुष्टों के बीच रहे तो उसके साधु स्वभाव की सुगंध दुष्टों को भी समोहित करे लेती है जैसे फूल की सुगंध को मिट्टी!

साधुनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधु समागमः।(8)

अर्थ—साधु (महापुरुष) तीर्थ-स्वरूप हैं, अतः उनका दर्शन पुण्य है, तीर्थस्थान आदि का फल समय से मिलता है, परन्तु साधुओं का संग तुरन्त फल देता।। (8)

भाव—परमार्थ के लिए जीवन जीने वाले साधु होते हैं। ऐसे लोगों के दर्शन और सत्संग का फल बड़ा लाभदायक है क्योंकि ये चलते-फिरते तीर्थ हैं जो सम्पर्क में आने वालों को अनायास पवित्र बनाते हैं।

विप्रास्मिन्नगरे महान कथय कस्तालद्रुमाणां गणः
दो दाता रजको ददाति वसनं प्रातर्गृहीत्वा निशि।
को दक्षः परवित्तदारहरणे सर्वोऽपि दक्षो जनः
कस्माज्जीवसि हे सखे विषकृमिन्यायेन जीवाम्यहम।(9)

अर्थ—कोई किसी ब्राह्मण से पूछता है कि हे विप्र! इस नगर में सबसे

बड़ा कौन है? उत्तर था—ताड़ के पेड़ों का समुदाय। इसमें दानी कौन है? उत्तर—धोबी है। वह प्रतिदिन प्रातःकाल कपड़ा ले जाता है और शाम को दे जाता हैं। चतुर कौन है? उत्तर—दूसरे की स्त्री चुराने में सभी चुतर हैं। हे मित्र! तो कैसे जीवित रहते हो? उत्तर—विष में पड़े कीड़े की भाँति किसी प्रकार जीता हूँ।। (9)

भाव—इस श्लोक में चाणक्य ने सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए वताया है कि आज की यही स्थिति है। वास्तव में लम्बा होने से या लम्बी डींगें हाँकने से कोई बड़ा नहीं हो जाता, किसी से कोई चीज माँगकर उसे वापस देने से कोई दानी नहीं बन जाता, परन्तु आज की स्थिति तो यही है कि आदमी समाज की विषय परिस्थितियों के मध्य कीड़े-मकोड़ों की भाँति अपना जीवन काट रहा है।

न विप्रपादोदक कर्दमानि, न वेदशास्त्र हवनिगर्जितानि।
स्वाहा स्वधाकार विवर्जितानि, श्मशान तुल्यानि गृहावितानि।। (10)

अर्थ—ब्राह्मणों के चरण जल (पैर धोने) से कीचड़ न हुए, वेदशास्त्र के शब्द-पाठ से रहित और स्वाहा (हवन), स्वधा (पितृ-कार्य) से वंचित घर श्मशान के समान है।। (10)

भाव—जहाँ ब्राह्मण अर्थात् परमार्थ के लिए अपना जीवन खपाने वालों के चरण नहीं धोए जाते, उनका आदर नहीं किया जाता और जहाँ वेदशास्त्रों के मंत्र नहीं गूँजते, यज्ञ-हवन नहीं होते, देवपूजन नहीं किया जाता वे घर, घर नहीं श्मशान के तुल्य हैं। वास्तव में यदि भारत में अपने गुरु की सेवा देवपूजन, वेदशास्त्र का पढ़न-पाठन व यज्ञ जैसे सत्कार्यों में लगे रहने से एक चेतना पैदा होती है, जागरूकता बढ़ती हैं, यदि इन का अभाव कहीं है तो निश्चय ही वहाँ चेतनाहीन लोगों का निवास होगा जो मुर्दे के समान है, और मुर्दे श्मशान में ही हुआ करते हैं।

सत्यं माता पिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया सरण।
शान्तिः पत्नी क्षमा पुत्रः षडेते मम बांधवाः।। (11)

अर्थ—सत्य मेरी माता है, ज्ञान मेरा पिता है, धर्म मेरा भाई है, दया मित्र है, शान्ति स्त्री है, क्षमा पुत्र है—ये मेरे छह बंधु-बांधव हैं।। (11)

भाव—माया-मोह के तथा अहंकार के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं और

ज्ञान की अवस्था आती है तो ज्ञानी सत्य को अपनी माता, ज्ञान को पिता, धर्म को भाई, दया को मित्र, शान्ति को स्त्री और क्षमा को अपना सम्बन्धी अनुभव करने लगता है। वास्तव में यह चेतना के विकास की अवस्था है।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैत्र शास्वताः।
नित्य सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः।(12)

अर्थ—सभी शरीर नाशवान हैं, सम्पत्तियाँ अनित्य हैं और मृत्यु समीप हैं, अतः धर्म का संचय करना चाहिए।। (12)

भाव—जीवन धर्मपूर्वक जीना चाहिए क्योंकि धर्म ही इस संसार में तथा परलोक में साथ देता है अन्यथा शरीर भी नष्ट हो जाता है, सम्पत्ति भी नहीं ठहरती; क्योंकि मृत्यु निरन्तर पीछा करती रहती है।

निमंत्रणोत्सवा विप्रा गावो नव तृणोत्सवा।
पत्युत्साह भार्या अहं कृष्णरणोत्सुकः।(13)

अर्थ—कोई भक्त कहता है कि ब्राह्मण देवता निमंत्रण उत्सव में (हर्ष) मनाते हैं, गायें नई हरी-हरी घासों में, स्त्रियाँ पति से समागम में परन्तु मैं श्रीकृष्ण के रण (लीला) में उत्सव मानता हूँ।। (13)

भाव—प्रबुद्ध व्यक्ति को सम्मान-आदर मिलता है, वह प्रसन्न होता है, अपने सम्मान में आयोजित उसे प्रिय लगते हैं, गायों को हरी-हरी घास ही पसन्द है, उनके लिए वही उत्सव है, स्त्रियाँ पति का सुख पाकर स्वयं को धन्य समझती हैं, लेकिन जिसकी परमात्मा के चरणों में प्रीत है वह सदैव उसी की चर्चा सुनकर स्वयं को धन्य मानता है।

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु या पश्यति स पण्डित।(14)

अर्थ—जो दूसरे की स्त्री को माता के समान, दूसरे के धन को मिट्टी के समान और सभी जीवों को अपने समान देखता है वही पण्डित है।। (14)

भाव—मानवीय चेतना जब अन्तिम बिन्दु तक विकसित हो जाती है तब मनुष्य ज्ञानी अर्थात् पण्डित कहलाता है। उस अवस्था में उसकी विचार-दृष्टि में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन आता है उसमें वह पराई स्त्री को जननी के रूप में देखता है और दूसरे के धन पर अपनी नीयत रखना तो दूर बल्कि दूसरे के धन को मिट्टी के समान समझने लगता है, साथ ही संसार का हर जीव उसे

अपने समान अनुभव होने लगता है, उनके कष्ट उसे अपने कष्ट प्रतीत होते हैं। वास्तव में मनुष्य की जीवन यात्रा इसी महान बिन्दु तक पहुँचने की है जिसकी प्रेरणा, साधना, मार्ग-दर्शन भारतीय धर्मशास्त्रों में है।

धर्मेतत्परता मुखे मधुरता दाने समुत्साहता
मित्रेऽवंचकता गुरौ विनयता चित्तेऽतिगंभीरता।
आचारे शुचिता गुणे रसिकता शास्त्रेषु विज्ञातृता
रूपे सुन्दरता शिवे भजनता त्वय्यस्ति वै राघव।(15)

अर्थ—धर्म में लगे रहना, मीठा बोलना, दान में उत्साह, मित्र को धोखा न देना, गुरु में नम्रता, मन में गाम्भीर्य, आचार में पवित्रता, गुण में प्रेम, शास्त्रों में जानकारी, सुन्दर स्वरूप और शिवजी में भक्ति—हे राम चन्द्र! ये सब तुम्हीं में हैं, दूसरे में नहीं।। (15)

भाव—इस श्लोक में भगवान राम के दिव्यगुणों का उल्लेख है कि वे सदैव धर्म के लिए सक्रिय रहते हैं, उनकी वाणी मधुर है, दान में वे उत्साही हैं, मित्र को कभी धोखा नहीं देते, गुरु के प्रति विनम्र हैं, मन से गभीर हैं, आचार में पवित्र हैं, शास्त्रों का ज्ञान रखते हैं, सुन्दर रूप हैं और शिवजी के प्रति भक्तिभाव से परिपूर्ण हैं। ऐसे गुण केवल राम के अतिरिक्त किसी दूसरे में नहीं हैं।

काष्ठं कल्पतरुः सुमेरुरचलश्चिन्तामणिः प्रस्तरः
सूर्यतीव्रकरः शशी क्षयकरः क्षारी हि वारां निधिः।
कामो नष्ट तनुर्वलिर्दिति सुतो नियं पशुः काम गौर्जातस्ते
तुलयामि भो रघुपते कस्योपमा दीयते।(16)

अर्थ—हे रघुपति! रामचन्द्र! कल्पवृक्ष काष्ठ है, सुमेरु पर्वत है, चिन्तामणि पत्थर है, सूर्य तीक्ष्ण किरण वाला है, चन्द्रमा क्षीण होता रहता है, समुद्र खारा है, कामदेव बिना शरीर का है, राजा बलि दैत्य का पुत्र है और कामधेनु पशु है। इतने उत्तम सब पैदा हैं परन्तु मैं तुलना करता हूँ तो प्रभो आपको किसकी उपमा दी जा सकती है, यह सिद्ध नहीं होता तो अर्थात् किसी की नहीं।। (16)

भाव—भारतीय संस्कृति के प्रतीक भगवान राम अद्वितीय पुरुष हैं जिनकी श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वस्तुओं से तुलना असंगत प्रतीत होती है, यही सिद्ध

करने के लिए चाणक्य कामधेनु, कल्पवृक्ष, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, कामदेव, बलि के उद्धरण देकर भगवान राम की अद्वितीयता व अतुलनीयता को प्रस्तुत कर रहे हैं।

विनयं राजपुत्रेभ्यः पण्डितेभ्यः सुभाषितम्।
अनृतं द्यूतकारेभ्यः स्त्रीभ्यः शिक्षते कैतवम्।(17)

अर्थ—राजपुत्रों से नम्रता, पंडितों से मधुर वचन, जुआरियों से असत्य बोलना और स्त्रियों से धूर्तता सीखनी चाहिए।। (17)

भाव—राजा का पुत्र, विद्वान, जुआरी तथा स्त्री इनके गुण व अवगुण नीति के अनुसार तथा देश, काल परिस्थिति के अनुसार अपनाने चाहिए। उम्त बातें सीखना ठीक हैं किन्तु उनका उपयोग विवेकपूर्वक ही रहना चाहिए।

अनालोक्य व्यय कर्ता अनाथः कलहप्रियः।
आतुरः सर्वक्षेत्रेषु नरः शीघ्रम् विनश्यति।(18)

अर्थ—बिना विचारे खर्च करने वाला, असहाय (अकेला रहकर) झगड़ा करने वाला और सभी जगह व्याकुल रहने वाला मनुष्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।। (18)

भाव—आय-व्यय का जीवन में संतुलन अनिवार्य है, कमाने में इतनी बुद्धिमता नहीं होती जितनी व्यय करने में होनी चाहिए, खर्च को बिना सोचे-समझे करने वाला नष्ट ही होता है क्योंकि उसकी आय सुरक्षित ही नहीं रह पाती। बिना साथी-सहयोग के अकेले ही झगड़ बठैने वाला कभी भी संकट में पड़ कर नष्ट हो सकता है। हर जगह अपना रोना लेकर बैठने वाला भी उपेक्षा का शिकार होता है और इस दुर्बलता के कारण उसका अस्तित्व व व्यक्तित्व दोनों महत्त्वहीन होकर नष्ट हो जाते हैं।

नाहारं चिन्तयेत प्राज्ञो धर्ममेकं हि चिन्तयेत्।
आहारो हि मनुष्याणां जन्मना सह जायते।(19)

अर्थ—बुद्धिमान मनुष्य भोजन की चिन्ता न करे, केवल एक धर्म का ही चिन्तन करे। यह निश्चय है कि मनुष्यों का आहार जन्म के साथ-साथ पैदा होता है।। (19)

भाव—चाणक्य का कथन है कि बुद्धिमान पुरुष अपनी बुद्धि का उपयोग मात्र उदर पोषण में न लगा कर धर्म कर्तव्य को पूरा करने में

नियोजित करे क्योंकि आहार का प्रबन्ध तो मनुष्य के लिए उसके जन्म के समय से ही हो चुका होता है।

जलबिन्दु निपातेन क्रमशः पूर्यते घटः।
स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च।(20)

अर्थ—जैसे लगातार एक-एक बूँद के गिरने से पूरा घड़ा भर जाता है, वैसे ही एक-एक अक्षर सब विद्याओं का तथा एक-एक पैसा धन धर्म की वृद्धि का कारण होता है।। (20)

भाव—थोड़ा-थोड़ा अध्ययन करने से मनुष्य विद्वान बन जाता है, क्योंकि वह थोड़ा-थोड़ा अध्ययन ही धीरे-धीरे ज्ञान के विशाल भण्डार का रूप ले लेता है इसी प्रकार धर्म कार्यों में यदि थोड़ा-थोड़ा धन भी व्यय किया जाता रहे तो उससे भी धर्म के लोक-कल्याणकारी कार्य सम्पन्न किए जा सकते हैं जो देखने में चमत्कार जैसे प्रतीत होते हों। चाणक्य का आशय है कि विपुल धन राशि ही धर्म के लिए होना आनिवार्य नहीं वरन् धर्म की सच्ची भावना हो तो स्वल्प साधनों से भी बड़े कार्य हो सकते हैं।

वयसः परिणामेऽपि यः खलः खल एव सः।
सुपक्वमपि माधुर्यं नोपायातीन्द्र वारुणम्।(21)

अर्थ—जो दुष्ट हैं वह आयु के अन्त (बुढ़ापा) में भी दुष्ट ही रहता है। पूर्ण पका हुआ भी अनार मीठा नहीं होता।। (21)

भाव—मनुष्य का यदि शुरू से ही दुष्ट स्वभाव बन गया है तो वह अन्त तक नहीं बदलता, क्योंकि जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ती है उसमें मजबूती आती चली आती है, इसलिए बुढ़ापे में दुष्टता और पक्की ही हो सकती है, छूट नहीं सकती।

तेरहवाँ अध्याय

मुहूर्तमपि जी वेच्च नरः शुक्लेन कर्मणा।
न कल्पमपि कष्टेन लोकद्वयविरोधिना। (1)

अर्थ—मनुष्य उत्तम कर्म में एक घड़ी या पलक गिरने पर भी जीवे तो अच्छा है, किन्तु दोनों लोक के विरोधी कष्टमय जीवन से कल्प भर भी तो जीना श्रेष्ठ नहीं है।। (1)

भाव—मनुष्य को अपना हर क्षण श्रेष्ठ कार्य में लगाना चाहिए यह मानकर कि उत्तम कर्म करने में पलक गिरने या एक घड़ी का समय भी महत्त्वपूर्ण है किन्तु जिसमें संसार व सृष्टि का अहित हो, ऐसे कार्य में यदि करोड़ों वर्ष का भी जीवन मिले तो व्यर्थ है, श्रेष्ठ नहीं है।

गते शोको न कर्तव्यो भविष्यं नैव चिन्तयेत्।
वर्तमानेन काले न प्रवर्तन्ते विचक्षणाः।(2)

अर्थ—बीते हुए का शोक नहीं करना चाहिए, और होने वाले की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, आए हुए समय को देखकर ही विद्वान लोग किसी कार्य में लगते हैं।। (2)

भाव—जो समय बीत चुका उसकी घटनाओं को पकड़े रहना मूर्खता हैं क्योंकि बीता हुआ समय अपना नहीं होता, साथ ही आने वाले समय अर्थात् भविष्य को लेकर भी चिन्ता व्यर्थ है क्योंकि उसे देखा नहीं गया। वास्तव में वर्तमान ही अपने हाथ में होता जो भविष्य बनता है अतः बुद्धिमान व्यक्ति भूत व भविष्य की चिन्ता न करके वर्तमान को ही सुधारने पर ध्यान देते हैं जो उचित भी है।

स्वभावेन हि तुष्यन्ति देवा सत्पुरुषाः पिता।
ज्ञातयः स्नानपानाभ्यां वाक्य दानेन पण्डिता। (3)

अर्थ—उत्तम स्वभाव से ही देवता सज्जन और पिता संतुष्ट होते हैं जातियाँ (बंधुवर्ग) खान-पान से और अच्छी-अच्छी बातों से पंडित लोग प्रसन्न होते हैं।। (3)

भाव—किसी की भी प्रसन्नता और अप्रसन्नता उसकी अवस्था, व्यक्तित्व व स्तर के अनुरूप होती है, चाणक्य ने यहाँ देवता, सज्जन व पिता का उल्लेख करते हुए कहा है कि ये लोग अच्छे स्वभाव से प्रसन्न होते हैं, देवता की उपासना के लिए देवता बनना पड़ता है तथा देवत्व के गुणों को धारण करना पड़ता है, सज्जन केवल सज्जन स्वभाव से प्रसन्न हो सकता है, पिता उत्तम स्वभाव की संतान पाकर संतुष्ट होगा। बन्धु-बांधव अपने आदर-सत्कार से तृप्त हो जाते हैं, किन्तु पंडित अर्थात् विद्वान केवल ज्ञान भरी बातों से प्रसन्न होते हैं, किसी भी आडम्बर आदि का उन पर प्रभाव नहीं पड़ता।

अहो यत विचित्राणि चरितानि महात्मनाम्।
लक्ष्मी तृणाय मन्यन्ते तद्भारेण नमन्तिच। (4)

अर्थ—अहो! आश्चर्य है कि बड़ों के स्वभाव विचित्र होते हैं, वे लक्ष्मी को तृण के समान समझते हैं और उसके प्राप्त होने पर भी उसके भार से नम्र हो जाते हैं।। (14)

भाव—चाणक्य आश्चर्य दर्शाते हुए महान लोगों की महानता का इस श्लोक में वर्णन कर रहे हैं कि महान लोग धन को महत्त्व नहीं देते हैं और उसे तिनके के समान समझते हैं। यदि उनके पास धन आ भी जाए तो उसके भार से दबकर वे विचलित नहीं होते, न अभिमानी बनते हैं वरन् उनमें विनम्रता पहले से भी अधिक आ जाती है।

यस्य स्नेहो भयं तस्य स्नेहो दुःखस्य भाजनम्।
स्नेह मूलानि दुःखनि तत्तत्यक्त्वा वसेत्सुखम्। (5)

अर्थ—जिसको प्रेम है वही डरता है, प्रेम दुःख का कारण है, दुखों की जड़ प्रीति है। अतः उसे छोड़ कर सुख में रहना चाहिए।। (5)

भाव—जब भी किसी को किसी वस्तु या व्यक्ति से प्रेम होता है तो उसके मन में यह भय भी उत्पन्न होना आरम्भ हो जाता है कि कहीं उसका प्रेम पात्र उससे छिन न जाए, इस कारण वह दुःखी रहने लगता है। इस दुःख का कारण वह प्रीत ही है जिसके खोने की आशंका से दुःख हुआ करता है।

अतः क्षणिक प्रेम को त्यागकर सुखपूर्वक जीवन को अपनाना ही बुद्धिमानी है।

अनागत विधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति।(6)

अर्थ—आने वाली बातों को पहले ही सोच कर करने वाले और आई हुई विपत्ति पर तुरन्त उचित विचारने वाले ये दोनों सुखी रहते हैं, और जो होगा वह होगा ऐसा सोचने वाला नष्ट हो जाता है।। (6)

भाव—चाणक्य ने यहाँ यथार्थवादी चिन्तन का प्रतिपादन किया है कि भविष्य की संभावित घटनाओं का पूर्व आंकलन तथा प्रस्तुत विपत्तियों पर तुरन्त विचार कर लेने वाले ही निश्चिन्त रहते हैं। वह नहीं, जो संभावित समस्याओं को प्रमादवश टालते रहते हैं, ऐसे लोग नष्ट हो जाते हैं।

राज्ञि धर्मिणी धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समा।
राजानमनुवर्त्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः।(7)

अर्थ—जैसा राजा वैसी ही प्रजा होती है, धर्मात्मा राजा के राज्य की प्रजा धर्मात्मा, पापी के राज्य की पापी और मध्यम वर्ग के राजा के राज्य की प्रजा मध्यम, अर्थात् प्रजा राजा का अनुसरण करती है।। (7)

भाव—राज्य वह शक्ति केन्द्र है जो जनमानस पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ता है। राजा नास्तिक, आस्तिक, धार्मिक, अधार्मिक, पापी या पुण्यमय जिस विचारधारा का होगा वैसी ही छाप वह प्रजा पर छोड़ता है। राजा भ्रष्ट होगा तो उसका शासन तंत्र स्वयं भ्रष्ट हो जाएगा और वही प्रवृत्तियाँ प्रजा में भी अवश्य घुस जाएँगी। क्योंकि प्रजा जाने-अनजाने शासन व्यवस्था का ही अनुसरण किया करती है।

जीवतं मृतवन्मन्ये दिहिनं धर्मवर्जितम्।
यतो धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवी न संशयः।(8)

अर्थ—मैं धर्महीन मनुष्य को जीवित देखते हुए भी मृतक के समान समझता हूँ, क्योंकि इसमें सन्देह नहीं कि धर्म से युक्त मनुष्य चिरंजीवी होता है।। (8)

भाव—मनुष्यता ही सबसे बड़ा धर्म है, इसलिए जिसके भीतर मनुष्य धर्म नहीं वह मृतक के समान है क्योंकि मनुष्य का प्राण धर्म है और धर्म का

प्राण मनुष्यता! जो भी मनुष्य मनुष्यता के धर्म से युक्त है वही प्राणवान है अर्थात् चिरंजीवी है।

धर्मार्थं काममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्य निरर्थकम्।(9)

अर्थ—धर्म, धन, काम और मोक्ष इसमें से जिसने एक को भी नहीं पाया उसका जन्म लेना व्यर्थ है।। (9)

भाव—मनुष्य जीवन लौकिक व पारलौकिक उपलब्धियों के लिए मिला है जिसके प्रतीक धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष हैं। धर्म और मोक्ष पारलौकिक उपलब्धि हैं तथा अर्थ और काम लौकिक उपलब्धि! इन चारों पुरुषार्थों में से एक को भी प्राप्त न करने वाला चूँकि पुरुषार्थहीन है इसलिए चाणक्य का कथन उचित ही है कि उसका जन्म ही लेना व्यर्थ है।

दह्यमानाः सुतीव्रेण नीचाः परयशोऽग्निनता।
अशक्तास्तत्पदं गंतुं ततो निन्दां प्रकुर्वते।(10)

अर्थ—दुष्ट मनुष्य दूसरे की यशरूपी अत्यन्त तीक्ष्ण अग्नि से जलते हैं और उस स्थान पर नहीं पहुँचने के कारण उसकी निन्दा करते हैं।। (10)

भाव—किसी के यश को देखकर जलने वाले अपनी हीन ग्रन्थियों का शिकार होते हैं इसलिए उनमें यह क्षमता नहीं होती कि दूसरे की यशरूपी अग्नि को सह सकें। हीनता उन्हें कचोटती है कि यश वाले व्यक्ति के स्थान को नहीं पा सके। अतएव अपनी हीनता को दूर करके सकारात्मक सोच अपनाकर यशमार्ग पर अग्रसर होना चाहिए। ईर्ष्या, जलन से तो रही-सही प्रतिभा भी कुंठित हो जाती है।

बंधाय विंषया सर्गो मुक्तौ निर्विषयं मनः।
मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो।(11)

अर्थ—मन को विषय (काम) में अत्यन्त आसक्ति बन्धन का कारण और विषयवासनाहीन मुक्ति का कारण है अर्थात् मनुष्यों का मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण होता है।। (11)

भाव—जीवन की समस्त गतिविधियों का केन्द्र बिन्दु मनुष्य का मन है। यही मन मनुष्य के समस्त कार्यों का सूत्र संचालक है, मन का जैसा स्वरूप, स्तर होता है मनुष्य का व्यक्तित्व उसी के साँचे में ढलता चला जाता

है। मन मनुष्य को क्षुद्र से महान बना सकता है और महान से क्षद्र! यही मन सांसारिक वासनाओं में फँसा देता है और यही उससे मुक्त भी कर देता है, अतः मन को सही दिशा में चलने का प्रशिक्षण दिया जाए तो मनुष्य स्वयं को जानकर सांसरिक जंजीरों से मुक्तावस्था भी प्राप्त कर सकता है।

देहाभिमाने गलिते ज्ञानेन परमात्मनः।
यत्र-यत्र मनो याति तत्र-तत्र समाधयः। (12)

अर्थ—परमात्मा से देहाभिमान नष्ट हो जाने पर मन जहाँ-जहाँ जाता हैं, वहाँ-वहाँ समाधियाँ हैं।। (12)

भाव—ईश्वर कृपा से ही मनुष्य का देहाभिमान नष्ट होता है, प्रायः मनुष्य शरीर की ही भूमिका में रहता है अर्थात् स्वयं को शरीर ही मानता है किन्तु जब भगवान का अनुग्रह होने पर उसके मन तथा वासनाओं का क्षय हो जाता है तो वह सदैव समाधि अवस्था में रहने लगता है।

ईप्सितं मनसः सर्वं कस्य सम्पछते सुखम्।
दैवायत्तमतः सर्वं तस्मात्संतोषमाश्रयेतः। (13)

अर्थ—मन से इच्छित सब सुख किस को मिलता है अर्थात् किसी को नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि देववश में सब हैं संतोष माँ का ही आश्रय लेना चाहिए।। (13)

भाव—संसार में किसी भी मनुष्य के लिए अपने मनचाहे सुख नहीं मिलते, सुख-दुःख अनायास आते और जाते रहते हैं जिनके पीछे दैवी कारण होते हैं। ऐसी स्थिति में चाणक्य का कथन है कि सन्तोष रखना चाहिए।

यथा धेनु सहस्त्रेषु वत्सो गच्छति मातरम्।
तथा यच्च कृतं कर्मं कर्तार मनुगच्छति। (14)

अर्थ—जैसे हजारों गायों के बीच में बछड़ा अपनी माता के पास जाता है उसी प्रकार किया हुआ कर्म करने वाले के पीछे-पीछे जाता है।। (14)

भाव—कर्म फल का सिद्धान्त अटल है। इसी को सिद्ध करते हुए चाणक्य बछड़े का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि हजारों गायों में जैसे बछड़ा अपनी माँ को खोज लेता है उसी प्रकार किया हुआ कर्म भी कर्ता को खोज लेता है अर्थात् कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है।

अनवस्थित कार्यस्य न जने न वने सुखम्।
जनो दहति संसर्गाद्वनं संगविवर्जनात्।(15)

अर्थ—अव्यवस्थित कार्य करने वाले को जन में या वन में कहीं भी सुख नहीं है, क्योंकि उसे जनसमूह संसर्ग से जलाता है और वन निर्जन होने के कारण जलाता है।। (15)

भाव—अस्त-व्यस्त तथा अव्यवस्थित स्वभाव का व्यक्ति जन और वन दोनों स्थानों पर अपनी प्रवृत्ति नहीं छोड़ पाता और जो करना है उसे नहीं कर पाता इसलिए वह हर स्थान पर दुःखी रहता है।

खनित्रेण खनित्वैव भूतले वारि विन्दति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधि गच्छति। (16)

अर्थ—जैसे मनुष्य खन्ती (रम्भा) या कुदाली से खोदकर ही पृथ्वी में पानी को पाता है, वैसे ही सेवा करने वाला विद्यार्थी गुरु की सेवा से उत्तम विद्या को प्राप्त कर लेता है।। (16)

भाव—विद्या सदैव गुरु सेवा से प्राप्त होती है, विद्यार्थी की सतत सेवा से प्रसन्न गुरु विद्यार्थी द्वारा खोद-खोदकर पूछे गए प्रश्नों का प्रसन्नता से समाधान करते हैं जिससे विद्यार्थी को विषय का समुचित ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् वह अन्य विद्यार्थियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ विद्या पा लेता है।

कर्मायत्तं फल पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी।
तथापि सुधिश्याचार्याः सुविचार्ये व कुर्वते। (17)

अर्थ—मनुष्यों का फल (भोग) कर्म के अधीन है, बुद्धि कर्म के अनुसार ही होती है, तब भी बुद्धिमान और बड़े लोग अच्छी तरह विचार कर ही कार्य करते हैं।। (17)

भाव—निसन्देह मनुष्य अपने कर्मानुसार ही भोग भोगता है और इसी कारण उसकी बुद्धि भी उस समय वैसी ही हो जाती है जैसी कर्म भोग के लिए अपेक्षित है, किन्तु यह सब जानते हुए भी श्रेष्ठ व बुद्धिमान लोग हर कार्य गहराई से पर्याप्त विचार करके ही किया करते हैं। तात्पर्य यह कि कुछ भी हो, कार्य सदैव विचारपूर्वक ही करना चाहिए।

संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्तव्योऽध्ययने जप दानयोः।(18)

अर्थ—अपनी स्त्री, भोजन और धन इन तीनों में संतोष करना चाहिए, और विद्या पढ़ना, जप करना और दान देना इन तीनों में संतोष करना चाहिए।। (18)

भाव—अपनी स्त्री, भोजन तथा धन में असंतुष्ट रहने वाला पुरुष चरित्र, चिन्तन व व्यवहार से गिर जाता और अपने लोक-परलोक को नरक बना लेता है परन्तु विद्या, ईश्वर जप व दान में संतोष न करने से उसकी विद्या व ज्ञानपिपासा, भक्ति की अभिलाषा तथा दान की प्रवृत्ति बढ़ती है जिससे उसकी महानता का पथ प्रशस्त होता जाता है।

एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिवंदते।
श्वान योनिशतं भुक्त्वा चांडालेष्वभिजायते।(19)

अर्थ—एक भी अक्षर पढ़ाने वाले गुरु को जो प्रणाम नहीं करता है, वह कुत्ते की सैकड़ों योनि भोग कर चाण्डाल योनि में पैदा होता है। (19)

भाव—विद्या का एक अक्षर भी पढ़ाने वाला गुरु वंदनीय है, उसे प्रणाम करना चाहिए, प्रणाम न करने वाला जिस दण्ड का भागी होता है उसका उल्लेख श्लोक में दिया गया है। वास्तव में विद्यादान देने वाले के प्रति कृतज्ञ रहना चाहिए।

युगांते प्रचलेन्मेरुः कल्पान्ते सप्त सागराः।
साधवः प्रतिपर्थान्न चलन्ति कदाचन।(20)

अर्थ—प्रलयकाल में चाहे मेरु पर्वत चलित हो (डगमगा) जाए, और कल्प के अन्त में सातों समुद्र चलित हो जाएँ, परन्तु बड़े लोग निश्चित किए मार्ग से कभी विचलित नहीं होते।। (20)

भाव—तात्पर्य कि महानता के पथ पर चलने वाले महापुरुषों का संकल्प वज्र के समान होता है, जो बड़े-बड़े व्यवधानों ये भी टस से मस नहीं हो सकता।

चौदहवाँ अध्याय

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम्।
मूढ़ैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंख्याऽभिधीयते।।(1)

अर्थ—पृथ्वी पर तीन रत्न मौजूद हैं—जल, अन्न और सुन्दर वचन, परन्तु गँवारों ने पत्थरों के टुकड़ों में रत्न की गिनती की है।। (1)

भाव—जल और अन्न के बिना मनुष्य का जीवन संभव नहीं है और मधुर वचनों के बिना समाज में विचरण करना कठिन है, किन्तु हीरे आदि पत्थरों को रत्न समझने का इस संसार में चलन चला दिया गया है और उपर्युक्त रत्नों पर कोई ध्यान नहीं देता।

दारिद्रयरोधदुःखानि बंधनव्यसनानि च।
आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम्।(2)

अर्थ—मनुष्यों के अपने अधर्म रूपी पेड़ के फल दरिद्रता, रोग, दुःख, बंधन और दुर्व्यसन है।। (2)

भाव—अधर्म के बीज बोने से उत्पन्न वृक्ष जिन नतीजों को फलरूप में प्रस्तुत करते हैं वे दरिद्रता, रोग, दुःख, बंधन और दुर्व्यसन हैं। चाणक्य ने यही संकेत इस श्लोक में किया है।

पुनर्वित्तम मुनर्मित्रं पुनर्भार्या पुनर्मही।
एतत्सर्वं पुनर्लभ्यं न शरीरं पुनः पुनः।(3)

अर्थ—धन मित्र, स्त्री और पृथ्वी ये बार-बार मिलते हैं परन्तु मनुष्य शरीर बार-बार नहीं मिलता है।। (3)

भाव—मनुष्य शरीर मिलना दुर्लभ है। धन, मित्र, सुन्दर स्त्रियाँ और पृथ्वी का राज्य यह बार-बार मिल सकता है परन्तु मनुष्य शरीर बिना पुण्य के नहीं प्राप्त होता। अतः मनुष्य शरीर को एक दुर्लभ उपकरण मानकर आत्म-

साक्षात्कार में लगाने का सदुपयोग करना चाहिए।

बहूनां चैव सत्वानां समवायो रिपुञ्जयः।
वर्षाधारा धरो मेगस्तृणैरपि निवार्यते।(4)

अर्थ—यह निश्चय है कि बहुत जीवों का समूह ही शत्रु को जीतता है, जैसे वर्षा की धारा को धारण करने वाले मेघ के जल का निवारण तृणों से भी हो जाता है।।(4)

भाव—यहाँ चाणक्य ने एकता की शक्ति का प्रतिपादन किया है जो बड़ी से बड़ी समस्या का निवारण कर सकती है।

जले तैलं खले गुह्यम पात्रे दानं मनागपि।
प्राज्ञे शास्त्र स्वयं याति विस्तारं वस्तु शक्तितः।(5)

अर्थ—पानी में तेल, दुष्टों में गोप्य बातें, उत्तम पात्र में दिया हुआ दान और बुद्धिमान के पास शास्त्र थोड़ा भी हो तो स्वयं उसकी शक्ति से विस्तृत अर्थात् अधिक हो जाता है।।(5)

भाव—जिस प्रकार पानी में डाला गया जरा-सा तेल भी फैल जाता है, दुष्टों में पहुँची गोपनीय बातें चारों तरफ फैल जाती हैं, उसी प्रकार उत्तम पात्र को दिया गया दान बहुत परोपकार करता है और बुद्धिमान का थोड़ा-सा शास्त्र ज्ञान भी काफी लोगों को प्रबुद्ध करता है। ज्ञान का विस्तार इसी प्रकार होता है अर्थात् सभी चीजों का अपना-अपना महत्त्व है।

धर्माख्याने श्मशाने च रोगिणां या मतिर्भवेत्।
सा सर्वदैव तिष्ठेच्चेत को न मुच्येत बंधनात्।(6)

अर्थ—धार्मिक कथा सुनने पर, श्मशान पर और रोगियों या दुखियों की कथा सुनने पर जैसी बुद्धि होती है, वह यदि सदा रहे तो संसार के बन्धन से कौन नहीं छुटकारा पा जाएगा, अर्थात् सभी बन्धन मुक्त हो जाएँगे।।(6)

भाव—चाणक्य का आशय है कि अस्थिर मन से संसार से विमुक्त होने की कामना करना कभी सुखकारी नहीं होता।

उत्पन्नपश्चात्तापस्य बुद्धिर्भवति याद्रशी।
ताद्रशी यदि पूर्वं स्यात्कस्य न स्यान्महोदयः।(7)

अर्थ—किसी कर्म के करने के पश्चात यदि पछताने वाले पुरुष को जैसी बुद्धि उत्पन्न होती है वैसी यदि पहले से ही रहे तो किसकी बड़ी

समृद्धि न होगी।। (7)

भाव—यदि समृद्धिशाली होना है तो हर कार्य से पूर्व विचार का लेना चाहिए, बिना बिचारे कार्य पर बाद में पछताना ही पड़ता है, अतः पूर्व विचार करते समय उसी बुद्धि से विचार करना अपेक्षित है जैसी बुद्धि पछताते समय होती है अर्थात् हानि-लाभ का विश्लेषण सूक्ष्मता से करना चाहिए।

दाने तपति शौर्ये च विज्ञाने विनये नये।
विस्मयो न हि कर्तव्यो बहुरत्ना वसन्धरा।(8)

अर्थ—दान में, तपस्या में, वीरता में, ज्ञान में और नम्रता में अर्थात् किसी में विशेषता देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि पृथ्वी अनेक रत्नों से भरी है।। (8)

भाव—संसार किसी भी युग में नर रत्नों से खाली नहीं रहता, हर युग में दानवीर, तपस्वी पराक्रमी ज्ञानी तथा विनम्र पुरुष उपस्थित रहते हैं चाहे वह संख्या की दृष्टि से भले ही न्यूनाधिक हो सकते हों। उनका उपस्थित होना आश्चर्य का विषय नहीं माना जाना चाहिए।

दूरस्थोऽपि न दूरस्थो यो यस्य मनसि स्थितः।
यो यस्य हृदये नास्ति समीपस्योऽपि दूरगाः। (9)

अर्थ—जो जिसके मन में है वह उससे दूर होते हुए भी दूर नहीं है, ओर जो जिसके हृदय में नहीं है वह समीप रहते हुए भी दूर है।। (9)

भाव—चाणक्य का आशय यहाँ भावनात्मक सच्चाई को प्रस्तुत करना है कि सम्बन्ध यदि मन से हो तो दूर रहने से कोई अन्तर नहीं पड़ता बल्कि दूरी में सम्बन्ध और भी प्रगाढ़ हो उठता है, किन्तु यदि मन का सम्बन्ध न हो तो कोई कितना ही समीप रहे वह दूर ही रहता है क्योंकि वहाँ भावना का जुड़ाव ही नहीं है।

यस्माच्च प्रियमिच्छेत्तु यस्य ब्रूयात्सदा प्रियम्।
व्याधो मृगवधं कर्तुं गीतं गायति सुस्वरम्।(10)

अर्थ—जिससे अपना हित करना चाहें उसे सदा प्रिय बोलें, जैसे बहेलिया मृग को मारने के लिए मीठे स्वर से गाता है।। (10)

भाव—जिससे प्रयोजन सिद्ध हो उससे कड़वे वचन बोलना मूर्खता है, उससे तो सदैव मधुर वचन बोलना बुद्धिमानी है। बहेलिया मीठी तान से

मृग को मारने का प्रयोग करता है। अतः भाव यही है कि उद्देश्य की जिससे पूर्ति होती हो उससे सदैव मृदुभाषी तथा शिष्टतापूर्वक व्यवहार रखना चाहिए।

अत्यासन्ना विनाशाय दूरस्था न फलप्रदाः।
सेव्यतां मध्याभावेन राजा वह्निर्गुरु स्त्रियः। (11)

अर्थ—राजा, अग्नि, गुरु और स्त्री इनसे मध्यम (साधारण) व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि अत्यन्त समीप होने पर ये नाश का कारण होते हैं, और दूर रहने पर इससे कोई फल नहीं होता।। (11)

भाव—आशय है कि इन चारों से समीप रहते सामान्य व्यवहार ही उचित है। न नीम से कड़वा और न गुड़ से मीठा। अर्थात् न अधिक दूरी न अधिक निकटता! संतुलन बनाए रखना ही अपेक्षित है।

अग्निरापः स्त्रियो मूर्खः सर्पो राजकुलानि च
नित्यं यत्नेन सेव्यानि सद्य प्राणहराणि षट्। (12)

अर्थ—अग्नि, पानी, स्त्री, मूर्ख, साँप और राजा के निकटवर्तियों का सेवन (सम्बन्ध) सावधानी से करना चाहिए, क्योंकि ये छह तुरन्त ही प्राण हरण करने वाले हैं।। (12)

भाव—इन छहों से असावधानीपूर्ण व्यवहार करने से प्राण संकट में पड़ सकते हैं। चाणक्य संकेत करते हैं कि इनसे विशेष सतर्कता बरती जानी चाहिए।

सा जीवति गुणा यस्य यस्य धर्मः स जीवति।
गुण धर्म विहीनस्य जीवितं निष्प्रयोजनम्। (13)

अर्थ—जिसके पास गुण है वही जीवित है और जिसके पास धर्म है वही जीवित है, गुण तथा धर्म से हीन मनुष्य का जीवन व्यर्थ है।। (13)

भाव—जीवन की सार्थकता वही सिद्ध कर पाते हैं जिनके पास योग्यता, प्रतिभा से सम्बन्धित गुण हों, साथ ही धर्म अर्थात् नौतिक व आध्यात्मिक चेतना हो। यदि यह मनुष्य में नहीं है तो उसका जीवन मात्र पशु की तरह पेट-प्रजनन में ही खप जाता है जो मानव जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के विरुद्ध है। यहाँ तात्पर्य यही है कि मनुष्य अपने भीतर सद्गुणों का विकास करे जिनसे व्यक्तित्व निखरे और धर्म-अध्यात्म का पथ अपनाए, ताकि वह स्वयं को अर्थात् अपनी आत्मा के स्वरूप को जान सके।

यदिच्छसि वशी कर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
पुरा पञ्चदशास्येभ्यो गां चरंतीं निवारय। (14)

अर्थ—यदि एक ही कर्म से सारे जगत को वश में करना चाहते हो तो पहले पन्द्रह मुखों (छिद्रों) से विचरने वाले मनरूपी इन्द्रिय को रोको। पन्द्रह मुख—आँख, कान, नाक, जीभ, त्वक्, मुख, हाथ, पैर, लिंग, गुदा, रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द हैं।। (14)

भाव—यहाँ आशय है कि जो समस्त संसार को अपने वश में केवल एक कर्म द्वारा ही करना चाहता है उसे स्वयं को आत्मसंयमी बनाना चाहिए। अर्थात् जिसका मन अपने वश में है वह सारे संसार को अपने वश में कर लेता है।

प्रस्ताव व सद्रशं वाक्यं प्रभावै सद्रशं प्रियम्।
आत्मशक्ति समं कोपं यो जानाति स पण्डितः। (15)

अर्थ—जो प्रस्ताव के योग्य बातों को और प्रभाव के अनुसार प्रिय कार्य या वचन को और अपनी शक्ति के अनुसार क्रोध करने को जानता है वही पण्डित है।। (15)

भाव—स्वयं की योग्यता, क्षमता, प्रभाव के विषय में सही आंकलन करने वाला बुद्धिमान अथवा पार्णुत कहलाता है अर्थात् स्वयं का अवश्यकता से अधिक मूल्यांकन करना मूर्खता होती है।

एक एव पदार्थस्तु त्रिधा भवति वीक्षितः।
कुणपं कामिनी मांसं योगिभिः कामिभिः शवभि। (16)

अर्थ—एक ही वस्तु तीन प्रकार से देखी जाती है, जैसे सुन्दर स्त्री योगियों से मृतक के रूप में, कामुकों से कामिनी के रूप में और कुत्तों से मांस के रूप में देखी जाती है।। (16)

भाव—चाणक्य ने स्त्री को अवलंबन बनाते हुए दृष्टिकोण की यहाँ मीमांसा की है, एक स्त्री योगी, कामुक व्यक्ति तथा कुत्ते की दृष्टि में विभिन्न अर्थ रखती है। इसका आशय है कि कोई भी मनुष्य जिस मनःस्थिति में है उसी के अनुसार वस्तुओं, घटनाओं आदि को देखता है, यदि उसकी दृष्टि या मनःस्थिति बदल जाए तो वस्तुओं के प्रति उसकी धारणा में भी परिवर्तन आ जाता है।

सुसिद्धमौषधं धर्मं गृहछिद्रं च मैथुनम्।
कुभुक्तं कुमृतञ्चैव मतिमान्न प्रकाशयेत्।(17)

अर्थ—बुद्धिमान का कर्तव्य है कि अति सिद्ध औषधि को, धर्म को, घर के दोष को मैथुन को, बुरे भोजन और बुरी मृत्यु को किसी से बताए नहीं।।(17)

भाव—सिद्ध औषधि का रहस्य हर किसी को बताने से वह कुपात्रों के पास भी पहुँच सकती है, उसका महत्त्व समाप्त हो सकता है, धर्म का रहस्य जिस-तिस को बताना व्यर्थ है क्योंकि उससे लाभ नहीं होता, घर का दोष दूसरे लोग पता लगने पर खिल्ली उड़ाते हैं, स्त्री संभोग प्रचारित करना मूर्खता है। इससे लोग उसे कामुक व्यक्ति करार देने लगते हैं। बुरी मृत्यु का समाचार सुनाने वाले को भी प्राय: मनहूस मान लिया जाता है, अत: इन बातों को बताने में बहुत सावधानी रखनी चाहिए।

तावन्मौनेन नीयंते कोकिलैश्चैव वासरा:।
यावत्सर्वजनानंददायिनी वाक् प्रवर्तते।(18)

अर्थ—कोकिलाओं के मौनपूर्वक दिन तभी तक बीतते हैं, जब तक कि सभी जनों को आनन्द देने वाली वर्षा प्रारम्भ नहीं होती है।।(18)

भाव—आम्रमंजरी के फूलने के बाद ही कोयल कूकती है। क्योंकि आम्रमंजरी की भीनी सुगन्ध से आनन्दित होकर वसंत ऋतु में लोगों की मीठी वाणी भी चहकने लगती है।

धर्मं धनं च धान्यञ्च गुरोर्वचमौष धम्।
सुगृहीतञ्च कर्तव्य मन्यथा तु न जीवति। (19)

अर्थ—धर्म, धन अन्न, गुरु का उपदेश और औषधि इनका संग्रह उत्तम प्रकार से करना चाहिए, नहीं तो जीवन नहीं रहता अर्थात् कल्याण नहीं होता।।(19)

भाव—ये पाँचों वस्तुएँ जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी तथा अनिवार्य हैं। धर्म जीवन में अनिवार्य है क्योंकि धर्म के अभाव में मनुष्य केवल शरीर तक सीमित होते-होते पशु बन जाता है और मानव जीवन के उद्देश्य से भटक जाता है। धन भौतिक जीवन में बहुत बड़ी शक्ति है। इसका संग्रह आड़े वक्त में काम आता है, गुरु के उपदेश कठिन परिस्थितियों में मार्ग-दर्शन करने में

सहायक बन जाते हैं तथा औषधि होने से स्वास्थ्य की रक्षा होती है। नीति के अनुसार इन सबका संग्रह मनुष्य के लिए लाभदायक ही रहता है।

त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम्।
कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्याम्। (20)

अर्थ—दुष्टों का संग छोड़ो, सज्जनों का संग करो। रात-दिन धर्म करो और प्रतिदिन इस अनित्य संसार को एवं नित्य (ईश्वर) अनित्य को सोचो।। (20)

भाव—सत्संगति और धर्माचरण करते हुए नित्य परमात्मा को याद करना चाहिए और इस संसार की नश्वरता को समझना चाहिए। सत्संगति के सामने दुष्टों का साथ कुछ भी नहीं है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

यस्यचित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषुः।
तस्य ज्ञानेन मोक्षेण किं जटा भस्म लेपनै।(1)

अर्थ—सब प्राणियों पर दया होने के कारण जिसका चित्त पिघल जाता है उसको ज्ञान, मोक्ष और जटा-भस्म धारण करने से क्या? (1)

भाव—सृष्टि के जीवों पर दया-करुणा करना सबसे उत्तम धर्म है, यदि किसी के दुःख से मन दुःखी न हो तो उसका अर्थ है कि हृदय भाव संवेदना से शून्य है और ऐसा संवेदन-शून्य हृदय वाला मनुष्य धर्म-अध्यात्म से कोसों दूर माना जाता है। चाणक्य का आशय धर्म अध्यात्म के इसी मूल तत्त्व की ओर संकेत करता है।

एकमेवाक्षरं यस्तु गुरुः शिष्यं प्रबोधयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वा चानृणी भवेत्। (2)

अर्थ—जो गुरु एक ही अक्षर शिष्य को पढ़ा देता है, उस छात्र के लिए भूमंडल में कोई वस्तु नहीं है जिसे देकर वह उऋण हो जाए। (2)

भाव—गुरु के उपकार से शिष्य कभी ऋणमुक्त नहीं हो सकता, माता-पिता तो केवल जन्म देते हैं किन्तु गुरु तो मनुष्य को विद्याजन्म देकर उसका लोक-परलोक तक सँवार देता है। अतः गुरु के प्रति कृतज्ञ तथा निष्ठावान रहना शिष्य का कर्तव्य है।

खलानां कण्टकानां च द्विविधैव प्रतिक्रिया।
उपानद्मुखभङ्गो वा दूरतो वा विसर्जनम्।(3)

अर्थ—दुष्टों और काँटों से बचने के दो उपाय हैं, जूतों से उनका मुख तोड़ना अथवा उनसे दूर रहना। (3)

भाव—दुष्ट और काँटे सदैव कष्ट पहुँचाने वाले होते हैं इसलिए इनसे

या तो दूर रहना चाहिए अथवा सामना होने पर इनका मुँह कुचलना चाहिए।

कुचैलिनं दन्तमलोपधारिणं बह्वाशिंन निष्ठुर भाषणं च।
सूर्योदये चास्तामिते श्यानं विमुञ्चति श्रीर्यदि चक्रपाणिः।(4)

अर्थ—गन्दे वस्त्र धारण करने वाले, मैले दाँतों वाले, बहुत भोजन करने वाले, कठोर बोलने वाले, सूर्योदय तथा सूर्यास्त काल में सोने वाले को, यदि वह साक्षात् चक्रपाणि (विष्णु) ही क्यों न हो, उसे लक्ष्मी छोड़ देती है।।(4)

भाव—इस श्लोक में चाणक्य ने सामान्य जीवनचर्या की ओर संकेत किया है कि प्रगति के लिए प्रातःकाल सूर्योदय से पहले उठना तथा सायंकाल सूर्यास्त के समय नहीं सोना चाहिए अन्यथा चाहे भगवान विष्णु के समान भी कोई ऐश्वर्यवान हो उसकी श्री समृद्धि नष्ट हो सकती है।

त्यजन्ति मित्राणि धनैर्विहीनं दाराश्च भृत्याश्च सुहृज्जनाश्च।
तं चार्थवन्तं पुनराश्रयन्ते ह्यर्थो हिलोके पुरुषस्य बन्धुः।(5)

अर्थ—निर्धन मनुष्य को मित्र, स्त्री, नौकर, हितैषीजन छोड़ देते हैं। परन्तु फिर धन होने पर उसी का आश्रय लेते हैं।। (5)

भाव—संसार में धन ही मनुष्य का बन्धु-बांधव है, साथ ही सम्बन्धों का आधार आर्थिक होता है, यहीं से सम्बन्धों का आरम्भ होता है और यहीं पर समाप्ति होती है अतः सांसारिक जीवन में सम्मान, प्रतिष्ठा आदि के लिए धन का संग्रह किया जाता है।

अन्यायोपार्जित द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति।(6)

अर्थ—अन्यायपूर्वक पैदा किया धन दस वर्ष तक रहता है, ग्यारहवें वर्ष के आते ही जड़ सहित नष्ट हो जाता है।। (6)

भाव—अवैध उपायों से मनुष्य को धनोपार्जन नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा धन कब नष्ट हो जाए इसका पता नहीं रहता।

अयुक्तं स्वामिनो युक्तं युक्तं नीचस्य दूषणम्।
अमृतं राहवे मृत्युर्विषं शंकरभूषणम्।(7)

अर्थ—बुरा भी समर्थ के लिए अच्छा हो जाता है और अच्छा भी नीच के लिए दोषकारक हो जाता है, जैसे अमृत राहु के लिए मृत्यु और विष शंकर

के लिए विष हो गया।। (7)

भाव—संसार का नियम है कि समर्थ, श्रेष्ठ तथा महान लोग छोटा-सा काम भी करते हैं तो वह छोटा कार्य भी गरिमापूर्ण बन जाता है, वहीं अभिमानी, दुष्ट तथा निम्न मानसिकता के लोग यदि बड़े पद पर, बड़े कार्यों में भी लग जाएँ तो उस कार्य की गरिमा गिर जाती है। तात्पर्य यह है कि व्यक्तित्व की गरिमा ही महत्त्वपूर्ण होती है।

तद्भोजनं यद्द्विजभुक्त शेषं तत्सौहृद यत् क्रियते परास्मेन्।
स बुद्धिमानं यो न करोति पापं दम्भं विना यः क्रियते स धर्म। (8)

अर्थ—भोजन वही है जो ब्राह्मणों के भोजन से बचे, भलाई वही है जो दूसरों के लिए की जाती है। बुद्धिमान वही है जो पाप नहीं करता, और बिना पाखण्ड के जो कार्य किया जाता है वही धर्म है।। (8)

भाव—ब्राह्मण से तात्पर्य यहाँ लोक-सेवियों से है, लोक-सेवा में लगे लोगों को भोजनादि का दान करके भोजन करना ही श्रेष्ठ है क्योंकि लोक-मंगल में धन, अन्न न लगाकर केवल अपने उदर भाषण के लिए किए जाना वाला भोजन, भोजन नहीं वरन् एक पाप है, अपने लिए कुछ करना कोई विशेष बात नहीं होती यदि हम दूसरों के लिए कुछ श्रेष्ठ कार्य करते हैं वही भलाई की परिभाषा में आता है। पाप कर्म से जीवन, धन, प्रतिष्ठा आदि का नाश होता है। जो बुद्धिमान है वह यह सब जानता है इसलिए वह पाप कर्मों से दूर रहता है। मात्र दिखाने के लिए धार्मिक कार्यों में लगना पाखण्ड है और पाखण्ड को छोड़कर सत्कार्यों को करना स्वयमेव धर्म कहलाता है।

मणिर्लुटति पदागे काचः शिरसि धार्यते।
क्रय विक्रय वेलायां काचः काचो मणिर्मणिः। (9)

अर्थ—मणि पैर के आगे लोटती हो, काँच सिर पर धारण किया गया हो, परन्तु खरीदने-बेचने के समय काँच काँच ही रहता है और 'मणि' मणि ही रहती है।। (9)

भाव—समय अथवा भाग्य के कारण विद्वान व्यक्ति का भले ही सम्मान न हो, पर जब मूल्यांकन का समय आता है तो विद्वान की विद्वत्ता को कोई चुनौती नहीं दे सकता। योग्य व्यक्ति की अलग ही पहचान होती है।

अनन्त शास्त्रं बहुलाश्च विद्याः
अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्। (10)

अर्थ—शास्त्रों का अन्त नहीं है, विद्याएँ अनेक प्रकार की है, जीवन का समय कम है, विघ्न अनेक हैं, अतः जो सार वस्तु है उसे ले लेना चाहिए, जैसे हंस जल के बीच से दूध के ले लेता है।। (10)

भाव—शास्त्रों में तथा अनेक कला कौशल, सहित्य आदि में अधिक उलझना, जीवन की क्षणभंगुरता समय-समय पर व्यवधान इन कार्यों से बेहतर है कि सार वस्तु को ही ग्रहण कर लिया जाए अर्थात् विवेकपूर्वक जीवन जीने की शैली अपनाई जाए।

दूरागतं पथि श्रान्तं वृथा च गृहमातम्।
अनर्चयित्वा यो भुकंते स वैचाण्डाल उच्यते। (11)

अर्थ—जो दूर से आए हुए, रास्ते के थके हुए, जो अनावश्यक आए अतिथि के बिना पूछे ही भोजन करता है, वह चाण्डाल कहलाता है।। (11)

भाव—दूर से आए थके-माँदे अतिथि का सत्कार श्रेष्ठ कार्य है। जो उसके सामने ही उसकी उपेक्षा करके खाता-पीता है वह निन्दा का पात्र हैं।

पठन्ति चतुरो वेदान धर्मशास्त्राण्यनेक शः।
आत्मानं नैव जानन्ति दर्वी पाक रसं यथा। (12)

अर्थ—बुद्धि, विचार से हीन ब्राह्मण चारों वेदों को और अनेक शास्त्रों को पढ़ते हैं, परन्तु आत्मज्ञान से रहित रह जाते हैं, जैसे कलछुल तमाम व्यंजनों में चलती हुई रसोई के रस को नहीं जानती।। (12)

भाव—वेदादि धर्मशास्त्र पढ़ना और उसके अनुसार नियम, संयम, मानन, चिन्तन न करने से वेदों के अध्ययन का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। वेदाध्ययन का उद्देश्य है आत्मज्ञान, यदि वेदाध्ययन से आत्मज्ञान नहीं हुआ तो कलछुल की भाँति स्थिति हो जाती है। तात्पर्य यह कि कलछुल व्यंजनों में चलती है लेकिन फिर भी चिकनी रहती है।

धन्या द्विजमया नौका विपरीता भवार्ण वे।
तरन्त्यछोगता सर्वे उपरिस्था पतन्त्यधः। (13)

अर्थ—इस संसार में ब्राह्मण रूपी नौका (नाव) प्रशंसा के योग्य है, जिसकी गति उलटी है, क्योंकि नावों पर बैठने वाला पार होता है, और नीचे वाला नहीं, किन्तु ब्राह्मण रूपी नौका के नीचे रहने वाला पार होता है और ऊपर वाला गिरता है अर्थात् ब्राह्मण से नम्र रहना चाहिए।। (13)

भाव—तपस्वी, योगी तथा लोकसेवी की एक साथ भूमिका निभाने वाला ब्राह्मण होता है और ऐसा ब्राह्मण उस नौका के समान है जो संसार के दल-दल से मनुष्य पार होता है, किन्तु जो भी ऐसे ब्राह्मण से विनम्र न रहकर उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है वह संसार के प्रपंच महासागर में डूब जाता है। तात्पर्य, नम्रता से ही बड़प्पन तथा ज्ञान प्राप्त होता है, प्रबुद्ध तथा विद्वान के प्रति विनयशील ही रहना चाहिए।

अयममृतनिधानश्चाग्रोऽप्यौष धीना—
ममृतमय शरीरः कान्तियुक्तौऽपि चन्द्रः।
भवति विगत रश्मिर्मण्डलं प्राप्य भानोः
पर सदन निविष्टः को लघुत्वं न यति। (14)

अर्थ—दूसरे के घर जाकर उसके वश होकर कौन छोटा नहीं हो जाता? देखो! यह अमृत का खजाना—औषधियों का स्वामी, अमृत शरीर और शोभा से युक्त चन्द्रभा भी सूर्य के मण्डल में जाते ही प्रकाशहीन हो जाता है।। (14)

भाव—पराए आश्रय में रहने से सदैव सम्मान गिरता है और नीचा देखना पड़ता है जैसे सूर्य के मण्डल में प्रवेश करते ही चन्द्रमा अपना प्रकाश खो देता है, अतएव सदा स्वावलम्बी ही रहना चाहिए ताकि अपना स्वाभिमान सुरक्षित रहे।

अलिरयं नलिनीदलमध्यगः कमलिनी मकरन्द मदाल सः।
विविधवशात्पर देशमुपागतः कुटजपुष्प रसं बहुमन्यते। (15)

अर्थ—कुमुदिनी के पत्तों के बीच रहने वाली कमलिनी के पराग (रज) के मद से मतवाला होकर आलसी बना रहने वाला यह भौंरा दैववश परदेश में आकर कौंरैये के फूलों के रस को अधिक समझता है।। (15)

भाव—श्लोक का आशय है कि परदेश सुखकर नहीं होता। परदेश में भँवरे की भाँति अनेक कष्टों को झेलना पड़ता हैं। वहाँ जो मिल जाए, उसी

पर सन्तोष करना पड़ता है।

पीतः क्रुद्धेन तातश्चरणतलहतो वल्लभो येग रोषा—
दाबाल्याद्विप्रप्रवर्ये स्ववदन विवरे धार्यते वैरिणी या।
गेहं में छेदयन्ति प्रतिदिवस मुवाकान्त पूजा निमित्तं
तस्मात्खिन्ना सदैव द्विजकुल निलय नाथ युक्तं त्यजामि। (16)

अर्थ—हे नाथ! ब्राह्मणवंशीय अगस्त्य ने मेरे पिता (समुद्र) क्रोध से पी डाला, भृगु ने मेरे परमप्रिय स्वामी (श्रीविष्णु) की छाती में लात मारी, बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक हमारी वीरणी (सरस्वती) बराबर मुख में ही रखी गई और उमापति (शंकर) की पूजा के लिए प्रतिदिन हमारा घर (श्रीफलपत्र) तोड़ते हैं, इन्हीं कारणों से सदा दुःखी मैं आपसे युक्त भी ब्राह्मणों के घर छोड़ देती हूँ, अर्थात् मैं उचित ही करती हूँ।। (16)

भाव—यहाँ लक्ष्मी का विष्णु के साथ संवाद कराया गया है और उस कारण को बताया गया है जिसकी वजह से लक्ष्मी ब्राह्मणों के घर में नहीं रहतीं। ब्राह्मणों से मानो उनका वैर है क्योंकि ब्राह्मणों (अगस्त्य) ने समुद्र (जिससे कि उनकी उत्पत्ति हुई) को पी डाला, (भृगु ऋषि ने) भगवान विष्णु (उनके पति) को लात मारी और सरस्वती को सदैव मुख में रखा है। अर्थात् विद्या ही सबसे बड़ा धन है।

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेम रज्जु कृत बंधन मन्यत।
दारु भेद निपुणोऽपि षऽङ घ्रिर्निष्क्रियो भवति पंकज कोशे। (17)

अर्थ—यह निश्चय है कि बन्धन अनेक हैं, परन्तु प्रेम का बन्धन निराला है, देखो! लकड़ी के छेदने में समर्थ भौंरा कमल की कलियों में क्रिया हीन हो जाता है अर्थात् प्रेम के कारण उसे छेदता नहीं।। (17)

भाव—प्रेम का बन्धन अटूट है। उसे तोड़ना कठिन है। जो प्राणी इस संसार के माया-मोह में फँस जाता है, वह भौंरे की तरह शीघ्र नष्ट हो जाता हैं। जिस प्रकार भौंरा कमल के मोह में फँसकर अपनी पंखुड़ियों में कैद होकर अपना जीवन गँवा देता है।

छिन्नोऽपि चन्दन तरुर्न जहाति गन्ध
वृद्धोऽपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम्।

यन्त्रार्षितो मधुरता न जहाति चेक्षुः
क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान्कुलीनः।(18)

अर्थ—काटा हुआ चन्दन का पेड़ सुगन्ध को नहीं छोड़ता, वृद्ध गजराज भी क्रीड़ा नहीं छोड़ता, ईख कोल्हू में पेरी गई भी मीठेपन को नहीं छोड़ती और कुलीन व्यक्ति दरिद्र होने पर भी शालीनता आदि गुणों को नहीं छोड़ता। (18)

भाव—सद्गुणी, संस्कारवान तथा कुलीन पुरुष किसी भी दशा में अपने स्तर, मर्यादा से विचलित नहीं होता है यही चाणक्य के इस श्लोक का अभिप्राय है। चन्दन में खुशबू होती है। वह कट जाए तो भी उसकी खुशबू समाप्त नहीं होती बल्कि उसकी सुगन्ध काटने वाली कुल्हाड़ी में से भी आनी शुरू हो जाती है, इसी प्रकार सत्पुरुष की सज्जनता का प्रभाव उससे वैर रखने तथा मारने वालों पर भी पड़ सकता है। गन्ना मीठा मधुर होता है, कोल्हू में पिरने पर भी उसकी मिठास वैसी ही रहती है। ऐसे ही मधुर भाषी लोग कष्ट पाने पर भी मधुर रहते हैं। कुलीन व्यक्ति में बड़प्पन, महानता शालीनता के गुण गरीबी, लाचारी और भूख की स्थितियों में भी बने रहते हैं।

उर्व्या कोऽपि महीधरो लघुतरोदोर्भ्या धृतो लीलया,
तेन त्वं दिवि भूतले च सततं गोवर्धनो गीयसे।
त्वां त्रैलोक्य धरं वहामि कुच योर ग्रेण तद्गण्यते,
किं या केशव भाषणेन बहुना पुण्यैर्यशो लभ्यते।(19)

अर्थ—श्रीकृष्ण को उलाहना देती हुई गोपी कहती है कि—हे कन्हैया! तुमने एक बार गोवर्धन नामक पर्वत को क्या उठा लिया कि तुम इस लोक में ही नहीं, परलोक में भी गोवर्धनधारी के रूप में प्रसिद्ध हो गए, परन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि मैं तीनों लोकों के स्वामी अर्थात् तुम्हें अपने हृदय में धारण किए रहती हूँ और रात-दिन मैं तुम्हारी चिन्ता करती हूँ, पर मुझे कोई त्रिलोकधारी जैसी पदवी नहीं देता।। (19)

भाव—यश-सम्मान तो पुण्य और भाग्य से ही प्राप्त होता है।

सोलहवाँ अध्याय

न ध्यातं पदमीम्बरस्य विधिवत्संसार विच्छित्तये
स्वर्गद्वार कपाट पाटनपटु धर्मोऽपि नोपार्जितः।
नारी पीन पयोधरोरु युगलं स्वानेऽपि नालिगितं
मातु-केवलमेवयौवन वनच्छेदे कुठारा वयम्। (1)

अर्थ—संसार से छुटकारा पाने के लिए विधिपूर्वक ईश्वर के चरणों का ध्यान नहीं किया, स्वर्ग के द्वार के कपाट तोड़ने में समर्थ धर्म का अर्जन भी नहीं किया, अतः मैं माता के युवावस्था रूपी वृक्ष को काटने में कुल्हाड़ी ही हुआ।। (1)

भाव—चाणक्य का यहाँ विचार संकेत है कि मनुष्य जन्म की सार्थकता सच्ची आस्तिकता सहित ईश्वर के प्रति समर्पित जीवन है तथा अपने धर्म के प्रति सजगता व सतर्कता है, धर्म के प्रति जागरूकता से इसी जीवन में स्वर्ग जैसा सुख प्राप्त किया जा सकता है, यदि कोई ऐसा नहीं करता तो वह अपनी माता के यौवन रूपी उस वृक्ष को काटने वाली कुल्हाड़ी जैसा है, अर्थात् यौवन में ऐसे व्यक्ति को जन्म देकर माँ का यौवन भी उस व्यक्ति ने व्यर्थ कर डाला।

जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यनं सविभ्रमाः।
हृदये चिन्तयन्त्यनं न स्त्रीणामेकनो रतिः। (2)

अर्थ—स्त्रियाँ दूसरे के साथ वार्तालाप करती हैं, दूसरे को कटाक्षपूर्वक देखती हैं, और हृदय में दूसरे की चिन्ता करती हैं, स्त्रियों का प्रेम एक से नहीं रहता।। (2)

भाव—यहाँ चाणक्य ने चंचल स्वभाव की स्त्रियों का उल्लेख करते हुए उनके हाव-भाव तथा लक्षणों के आधार पर बताया है कि उनका प्रेम

एक पुरुष के ही साथ नहीं रहता वरन् वह एक ही समय में कई पुरुषों के प्रति आकृष्ट तथा चिंतित रहा करती हैं।

यो मोहान्मन्यते मूडो रक्तैर्य मति कामिनी।
स तस्या वशगो भूत्वा नृत्येत् क्रीड़ा शकुन्तवत्। (3)

अर्थ—जो मूर्ख मोह से यह समझता है कि यह स्त्री मुझमें आसक्त है, वह उस स्त्री के वश में होकर खिलौने की चिड़िया की तरह नाचता है।। (3)

भाव—स्त्री की आसक्ति बुद्धि का हरण कर लेती है जिससे पुरुष समझता है स्त्री उसी के प्रति समर्पित है, इस प्रकार वह अपनी ही दुर्बलता का शिकार होकर मानसिक रूप से स्त्री का दास बन जाता है। चाणक्य का आशय है कि स्त्री के प्रति मोहित होना आसक्ति को जन्म देना है तो स्त्री सुख की आकांक्षा में बुद्धि और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का नाश कर देती है।

कोऽर्थान्प्राप्त न गर्वितो विषयिणाः कस्यापदोऽस्तं गताः
स्त्रीभिः कस्य न खंडितं भुवि मनः को नाम राज्य प्रियः।
कः कालस्य न गोचरत्वमगमत् कोऽर्थी गतो गौरवं
कोवा दुर्जनदुर्गणेषु पतितः क्षेमेण यातः पथि। (4)

अर्थ—धन को पाकर अभिमानी कौन नहीं हुआ! किस व्यभिचारी की आपत्तियाँ नष्ट हुईं? इस पृथ्वी पर स्त्रियों से किसका मन व्यग्र नहीं हुआ? किसी राजा का अतिप्रिय कौन हुआ? काल के सामने कौन नहीं गया? किस भिक्षुक ने गौरव को पाया? और दुष्टों के दुर्गुणों में गिरा हुआ कौन व्यक्ति संसार रूपी मार्ग में कल्याणपूर्वक गया? (4)

भाव—यहाँ विभिन्न प्रश्नों को उठाते हुए चाणक्य ने धन, व्यभिचार, स्त्री, राजा, काल भिक्षुक, दुष्ट, दुर्गुणी का संग का उल्लेख करके बताया है कि धन से अभिमान, व्यभिचार से आपत्ति, स्त्री की आसक्ति से मन की व्यग्रता, राजा की अति निकटता से मोहभंग, काल की सुनिश्चिता और दुष्ट और दुर्गुणी के संग से संसार में पतन पराभव प्राप्त होते हैं।

न निर्मिता चैव न दृष्टपूर्वा न श्रूयते हेममय कुरंगः।
तथापि तृष्णा रघनुन्दनस्य विनाशकाले विपरीत बुद्धिः। (5)

अर्थ—सोने का मृग ब्रह्मा ने अथवा किसी ने बनाया नहीं, न पहले कभी देखा गया, न तो कहीं सुना ही जाता है, तब भी श्री रघुनाथ जी की

(मारीच पर) इच्छा हुई। इससे यह सिद्ध हुआ कि विनाश के समय बुद्धि उलटी हो जाती है।। (5)

भाव—आशय यह हैं जब जैसी घटनाएँ व्यक्ति के जीवन में घटित होने वाली होती हैं व्याक्ति उन्हीं के अनुरूप बन जाता है अर्थात् मनःस्थिति के अनुसार कार्य तथा कार्य के अनुसार परिस्थितियाँ सामने आती हैं।

गुणैरुत्तमतां यान्ति नीचैरासनसंस्थितैः।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुड़ायते।(6)

अर्थ—मनुष्य नीचे आसन पर बैठा हुआ भी अपने गुणों से बड़प्पन को पाता है, परन्तु कोठे पर सबसे ऊँचे शिखार पर बैठा हुआ कौआ क्या गरुड़ सा हो सकता है?

भाव—भवन के ऊँचे शिखर पर बैठा कौआ गरुड़ के जैसा नहीं हो सकता अर्थात् ओछा व्यक्ति कितने ही उच्च पद पर बैठा हो वह ओछा ही रहता है किन्तु गुणवान कितने ही नीचे पद पर हो उसका सम्मान अंततः होता ही है क्योंकि गुण, कर्म और योग्यता का ही महत्त्व होता है।

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते न महत्योऽपि सम्पदः।
पूर्णेन्दुः किं तथा वन्द्यो निष्कलंको यथा कृशः।(7)

अर्थ—सब जगह गुणों की पूजा होती है, न कि अतुल सम्पत्तियों की। क्या पूर्णिमा का चन्द्रमा उसी प्रकार नमस्कार के योग्य माना जाता है जैसा कि क्षीण द्वितीया का चन्द्रमा? (7)

परस्तु गुणो यस्तु निर्गुणोऽपि गुणी भवेत्।
इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः।(7)

भाव—चंद्रमा किसी भी रूप में रहे विद्वान व्यक्ति के गुण की भाँति उसे हर स्थिति में नमन किया जाता है।

अर्थ—दूसरे के द्वारा गुणगान वाला गुणहीन व्यक्ति भी गुणी हो जाता हैं। परन्तु अपने मुख से अपनी प्रशंसा करने वाला इन्द्र भी लघुता को प्राप्त करता है।। (8)

भाव—यहाँ आशय यह है कि आत्म-प्रशंसा से मनुष्य बड़ा नहीं हो जाता बल्कि ओछा सिद्ध होता है। मनुष्य अपने कार्यों से ही प्रशंसनीय बनता है और दूसरे भी उसकी प्रशंसा करते हैं।

विवेकिनमनुप्राप्ता गुणा यान्ति मनोज्ञताम्।
सुतरां रत्नमाभाति चामीकरनियोजितम्।(9)

अर्थ—विचार करने वाले मनुष्य को पाकर गुण सुन्दर हो जाते हैं। सोने में जड़ा हुआ रत्न स्वयं ही अत्यन्त शोभा पाता है।। (9)

भाव—गुण गुणी को ही शोभा पहुँचाते हैं, अविवेकी व्यक्ति को नहीं! उसके पास तो गुण भी दुर्गुण बन जाते हैं।

गुणैः सर्वज्ञतुल्योऽपि सीदत्येको निराश्रयः।
अनर्घमपि माणिक्य हेमाश्रयमपेक्षते।(10)

अर्थ—आश्रयहीन मनुष्य गुणों से ईश्वर के समान होते हुए भी कष्ट पाता है, जैसे अनमोल श्रेष्ठ मणि भी सुवर्ण की अपेक्षा करती है।

भाव—आशय है कि आश्रय प्राप्त करके गुणी व्यक्ति अपने गुणों को समाज में स्थापित करने का अवसर प्राप्त कर लेता है, तभी उसे उचित यश और प्रसिद्धि प्राप्त होती है। अतः गुणवान के लिए उचित आश्रय होना अनिवार्य है।

अतिक्लेशेन ये अर्था धर्मस्यति क्रमेण तु।
शत्रूणां प्रणिपातेन अर्था ते मा भवन्तु मे।(11)

अर्थ—अत्यन्त दुःख से धर्म को छोड़ने और शत्रुओं के सामने झुकने से जो धन प्राप्त होते हैं, वह धन हमें प्राप्त न हों। (11)

भाव—धर्म का जिस धन की प्राप्ति में त्याग करना पड़े ऐसा धन त्याज्य है क्योंकि वह अपनी आत्मा को बेचकर अर्जित किया धन है। जिस धन के लिए अपना स्वाभिमान गिरवी रखना पड़े और शत्रु के आगे झुकने पर विवश होना पड़े ऐसे धन को ठोकर मार देनी चाहिए।

किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला।
या तु वेश्येय सामान्या पथिकैरपि भुज्यते।(12)

अर्थ—उस लक्ष्मी (धन) से क्या, जो घर में बैठी स्त्री के सरीखी है, न कि वेश्याओं के समान पथिकों (अतिथियों-राहियों) से भी भोगी जाती है।। (12)

भाव—जो धन किसी के काम न आ सके वह धन व्यर्थ है। धन का उपयोग लोकमंगल के लिए नहीं हो और उस पर एक ही व्यक्ति कुंडली मारकर बैठा रहे तो उसके होने-न होने से क्या लाभ!

धनेषुजीवितव्येषु स्त्रीषु चाहार कर्मसु।
अतृप्ताः प्राणिनः सर्वे याता यास्यन्ति यान्ति च।(13)

अर्थ—धन में, जीवन की वस्तुंओं में, स्त्रियों में और भोजन में सभी प्राणी असंतुष्ट ही रहकर संसार से चले गए, और चले जाते हैं, और जाएँगे।।(13)

भाव—धन, स्त्री तथा भोजन से कोई भी संतुष्ट नहीं होता। भोजन से क्षुधा कभी शान्त नहीं होती। स्त्रियों की वासना कभी तृप्त नहीं होती। जीवन की चाहे कितनी वस्तुएँ मिल जाएँ उनकी तृष्णाएँ भी उसी अनुपात से प्रबल होती हैं। सदैव यही क्रम इस संसार का रहा है। कबीर ने कहा भी है—'माया मरी न मन मरा, मर-मर गए शरीर, आशा तृष्णा न मरी कह गए दास कबीर!'

क्षीयन्ते सर्वदानानि यज्ञ होम बलिक्रियाः।
न क्षीयते पात्रदानमभयं सर्वदेहिनाम्।(14)

अर्थ—सभी दान, यज्ञ होम और बलि आदि क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं, किन्तु उत्तम व्यक्ति को दान देना और सब जीवों को अभय दान देना नष्ट नहीं होता है।।(14)

भाव—सुपात्र व्यक्ति को दिए गए दान तथा जीवों के प्रति करुणा, दया का पुण्य फल कभी नष्ट नहीं होता है।

तृणं लघु तृणात्तूलं तूलादपि च याचकः।
वायुना किन्न नीतोऽसौ मामयं याचष्यिति।(15)

अर्थ—तिनका हल्का होता है, तिनके से भी हल्की रुई होती है, रुई से भी याचक (दूसरे के सामने हाथ पसारने वाला भिक्षुक) छोटा-सा होता है। तो प्रश्न यह होता है कि तब वायु उसे उड़ा क्यों नहीं ले जाती। उत्तर—इस डर से नहीं उड़ाती कि यह हमसे भी माँगने लगेगा।।(15)

भाव—किसी से भी कुछ माँगने से मनुष्य हल्का पड़ जाता है, तिनके तथा रुई से भी हल्का व छोटा? संसार में माँगने वाले से सभी डरते हैं कि हमसे ये कुछ माँग न बैठे। संसार की इस स्वार्थपरता को देखते हुए मनुष्य को संसार में याचक की नहीं बल्कि दाता की भूमिका पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

वरं प्राणपरित्यागो मानभंगेन जीवनात्।
प्राणत्यागे क्षणं दुखं मानभंगे दिने-दिने। (16)

अर्थ—मानहानि युक्त जीवन से प्राणों को छोड़ देना (मृत्यु) श्रेष्ठ है, क्योंकि प्राणत्याग में एक क्षण कष्ट होता है परन्तु मानभंग में तो प्रतिदिन होता रहता है।। (16)

भाव—आशय है कि सम्मानित जीवन ही जीने योग्य होता है, अपमानित होकर जीने से तो मरना बेहतर है।

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यत्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने किं दरिद्रता। (17)

अर्थ—सभी जीव मीठे वचनों से संतुष्ट होते हैं, इसलिए प्रिय वचन बोलना चाहिए, वचन की क्या कमी है?

भाव—वाणी की मधुरता सभी को अपना बना लेती है इसलिए चाणक्य का कथन है कि मीठे वचनों के प्रयोग में कोई कंजूसी नहीं करनी चाहिए।

संसारकूटवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
सुभाषितं च सुस्वादं संगति सुजने जने। (18)

अर्थ—अचल संसार रूपी वृक्ष के दो अमृत तुल्य फल हैं। एक सरस (मीठा) वचन, दूसरा सज्जनों का सुन्दर साथ।। (18)

भाव—संसार में अमृत फल दो प्रकार के हैं, पहला मधुर वचन तथा सत्संगति! मधुर वचनों से जहाँ सब अपने होते हैं वह सत्संगति से जीवन को कल्याणमयी दिशाएँ मिलती हैं, जिनसे मनुष्य जन्म सार्थक व अमरता को प्राप्त करने वाला हो सकता है।

बहुजन्मसु चाभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः।
तेनैवाभ्यासयोगेन देही चाभ्यस्यते पुनः। (19)

अर्थ—अनेक जन्मों का जो अभ्यास किया हुआ दान, अध्ययन (पढ़ना) और तप रहता है, उसी के अभ्यास से मनुष्य पुनः अभ्यास करता है।। (19)

भाव—मनुष्य की किसी भी क्षेत्र में की गई तपस्या, व्यर्थ नहीं जाती

और न ही दिया गया दान और पठन-पाठन और अध्ययन ही व्यर्थ सिद्ध होता है, वरन् ये सत्कृत्य उसके साथ परछाईं की तरह जन्म-जन्मांतर तक साथ रहते हैं, जिन्हें मनुष्य अपने प्रत्येक जन्म और अगले चरण में विकसित करता है। तात्पर्य यह कि मानवीय चेतना सदैव विकास की यात्रा में रहती है, इसलिए प्रत्येक अपने भीतर श्रेष्ठ प्रवृत्तियों व सद्‌गुणों का अभ्यास बनाना चाहिए इससे उनके सतत विकास का मार्ग स्वयं प्रशस्त हो जाता है।

पुस्तकेषु च या विद्या पर हस्तेषु यद्धनम्।
उत्पन्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तद्धनम्।(20)

अर्थ—जो विद्या पुस्तकों में है, अर्थात् कण्ठस्थ नहीं की गई है और जो धन दूसरे के घर गया हो, ये दोनों कार्य के समय सफल नहीं होते, अर्थात् विद्या और धन दोनों को अपने हाथ में रखे।। (20)

भाव—अध्ययन की सार्थकता तभी है जब विषय हमारी स्मृति में स्पष्टत: अंकित हो जाए, धन की महत्ता तब है जब वह समय पर हमारे काम आए, अध्ययन का भूला हुआ विषय तथा दूसरे के पास हमारा धन समय पर काम नहीं आ सकते इसलिए अपनी निधि को अपने साथ सदैव उपयोगी तथा सुरक्षित रखना ही बुद्धिमानी है।

सत्रहवाँ अध्याय

पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ।
सभा मध्ये न शोभन्ते जारगभी इव स्त्रियः। (1)

अर्थ—जिन्होंने केवल पुस्तकों को ही पढ़ा, किन्तु गुरु के पास नहीं पढ़ा, वे जार (जीवित पति के रहते हुए अन्य से सम्बन्ध) से गर्भवती स्त्री के सरीखे सभा में शोभा नहीं पाते।। (1)

भाव—गुरु के चरणों में बैठ कर प्राप्त की गई विद्या से ही सम्मान प्राप्त होता है, यही चाणक्य का यहाँ आशय है।

कृते प्रतिकृतिं कुर्याद्धिंसने प्रतिहिंसनम्।
तत्र दोषो न पतति दुष्टे दौष्टयं समाचरेत्। (2)

अर्थ—उपकार पर प्रत्युपकार करना चाहिए, और मारने पर मारना ही चाहिए, उसमें दोष नहीं लगता, क्योंकि दुष्ट के साथ दुष्टता करनी ही चाहिए।। (2)

भाव—चाणक्य का कथन है कि जो अपने साथ उपकार करे उसके उपकार के प्रति कृतज्ञ रहते हुए प्रत्युपकार करना चाहिए, और जो हमला करे उसे हमले का मुँह तोड़ उत्तर देना उचित है, दुष्ट के साथ सदैव दुष्टता से ही पेश आना नीति हैं और इसमें दोष भी नहीं लगता।

यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरति क्रमम्। (3)

अर्थ—जो अति दूर हैं, जो कठिनाई से प्राप्त करने योग्य हैं, और जो दूर पर स्थित हैं ये सभी तपस्या से साध्य (मिल सकते) हैं, क्योंकि यह निश्चय है कि तपस्या सबसे प्रबल है।। (3)

भाव—तप का अर्थ है उद्देश्य के लिए पूर्ण एकाग्रता, लगन से बार-

बार प्रयत्न करना। इस प्रकार के प्रयत्न से निसन्देह चमत्कारिक सफलताएँ हस्तगत होती हैं।

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसापि कि शुचिमनः यद्यस्ति तीर्थेन किम्।
सौजन्यं यदि किं गुणैः सुमहिमा यद्यस्ति किम मण्डलीः।
सद्विद्या यदि किं धर्नैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना। (4)

अर्थ—मनुष्य में यदि लोभ है तो अन्य दुर्गुण से क्या? (अर्थात् लोभ सबसे बड़ा दोष है) यदि चुगलपन है तो अन्य पापों से क्या? यदि सच बोलता है तो अन्य तप की क्या आवश्यकता है? यदि मन पवित्र है तो तीर्थ यात्रा से क्या? यदि सज्जनता है तो अन्य गुणों की क्या आवश्यकता है? यदि कीर्ति है तो आभूषणों से क्या? यदि उत्तम विद्या है तो धन से क्या? संसार में यदि निन्दा है तो दूसरी मृत्यु से क्या? अर्थात् उपर्युक्त गुणों में एक के रहने पर अन्य उसके बराबर नहीं है।। (4)

भाव—लोभ साक्षात् नरक का द्वार है और इससे बड़ा अवगुण कोई नहीं है। निन्दा सबसे बड़ा पाप है, सत्य सबसे बड़ा तप है। मन की पवित्रता सभी तीर्थों में जाने से उत्तम है। सज्जनता सबसे बड़ा गुण है। यश सबसे बड़ा अलंकार (आभूषण) है। उत्तम विद्या सबसे श्रेष्ठ धन है और अपयश मृत्यु के समान कष्टकारी है।

पिता रत्नाकरो यस्य लक्ष्मीर्यस्य सहोदरी।
शङ्खो भिक्षाटनं कुर्यान्नदत्त मुप्रतिष्ठते। (5)

अर्थ—इससे यह निश्चर्य होता है कि बिना दिया हुआ पदार्थ सामने नहीं आता। देखो, जिसका पिता समुद्र है, लक्ष्मी जिसकी बहन है, ऐसा होते हुए भी शंख भीख माँगता है।। (5)

भाव—लक्ष्मी और शंख का जन्म समुद्र से ही माना जाता है। प्रायः देखा जाता है कि साधु लोग शंख बजाकर गृहस्थियों के घर से भिक्षा माँगते हैं। इसी से कहा गया है कि शंख भिक्षा माँगते हैं। अर्थात् सिद्ध हुआ कि एक ही कोख से जन्म लेने वालों का भाग्य अलग-अलग होता है।

अशक्तस्तु भवेत्साधुर्ब्रह्मचारी च निर्धनः।
व्याधिष्ठो देव भक्तश्च वृद्धा नारी पतिव्रता। (6)

अर्थ—शक्तिहीन मनुष्य साधु होता है, धनहीन व्यक्ति ब्रह्मचारी होता हैं, रोगी देवभक्त और वृद्धा स्त्री पतिव्रता होती है।। (6)

भाव—यह सब असमर्थता के ही फल हैं। तात्पर्य है कि शक्तिहीन होने पर साधुता का प्रदर्शन प्रकारान्तर से एक पाखण्ड हैं, अच्छा हैं कि शक्ति का अर्जन कर शक्तिशाली बना जाए तब साधु स्वभाव बनाया जाय। धन-हीनता में संयम व ब्रह्मचर्य का भी प्रदर्शन करना व्यर्थ का ढोंग ही है, इसलिए धनवान बनकर भोग विलास का त्याग करना आदर्श है, स्वस्थ होते हुए देवभक्ति करना श्रेष्ठ है, तथा स्त्री को अपनी युवावस्था में पतिव्रत धर्म का पालन करना चाहिए! ये सब कसौटियाँ ही साधुत्व, ब्रह्मचर्य, देवभक्ति तथा पतिव्रत धर्म को सिद्ध करने वाली हैं।

नान्नोदकसमं दानं न तिथिर्द्वादशी समा।
न गायत्र्यः परौ मंत्रो मातुर्दैवतं परम।(7)

अर्थ—अन्नदान और जलदान के समान दूसरा दान नहीं, द्वादशी तिथि के तुल्य अन्य तिथि नहीं, गायत्री के तुल्य अन्य मंत्र नहीं और माता के समान दूसरा देवता नहीं।। (7)

भाव—दान, तिथि, मंत्र और देवता इन चारों के विषय में चाणक्य का मत व्यावहारिक है। अन्न और जल प्रत्येक प्राणी के लिए अनिवार्य है अतः उसका दान सर्वश्रेष्ठ है। द्वादशी तिथि पर किए पुण्यकर्मों का फल उत्तम होता है, गायत्री मंत्र जाप से मनुष्य में प्राणशक्ति की अभिवृद्धि होती हैं, तथा शास्त्रों में गायत्री अमृत, पारस, कल्पवृक्ष बताई गई है। ईश्वर प्राप्ति तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए गायत्री मंत्र ही सर्वोत्तम संबल है। माँ के ऋण से कोई उऋण नहीं हो सकता तथा माँ का आशीर्वाद अमोघ होता है इसलिए माँ साक्षात् देवता है। इन सबका ध्यान रखने से जीवन सुखी बन जाता है।

तक्षकस्य विषं दन्ते मक्षिकायाः शिरो विषम।
वृश्चिकस्य विषं पुच्छ सर्वांगे दुर्जने विषम। (8)

अर्थ—साँप के दाँत में विष होता है, मक्खी के सिर में विष होता है, बिच्छू की पूँछ में विष है, पर दुष्ट का सर्वांग विष है।। (8)

भाव—साँप, मक्खी, बिच्छू इनके अंगविशेष में ही विष होता है किन्तु दुर्जन (दुष्ट) व्यक्ति के सर्वांग अर्थात् नस-नस में विष रहता है और वह

विषैले जीवों से भी अधिक विषैला होने से संगति के कदापि योग्य नहीं होता अतः दुष्ट की संगति हानिकारक है, इसलिए उससे सदैव बचना चाहिए।

पत्युराज्ञा विना नारी उपोष्य व्रतचारिणी।
आयुराहरते भर्तः सा नारी नरकं ब्रजेत।(9)

अर्थ—पति की आज्ञा बिना ही उपवास करके व्रत करने वाली स्त्री अपने पति की आयु नष्ट करती है और नरक में जाती है।। (9)

भाव—पति की आज्ञा लेकर ही व्रत-उपवास करने चाहिए, तभी इन कर्मों का उत्तम फल प्राप्त होता है।

न दानैः शुद्धय्यते नारी उपवास शतैरपि।
न तीर्थं सेवया तद्वदभर्तुः पादोदकैर्यथा।(10)

अर्थ—स्त्री न दानों से, न सैकड़ों उपवास व्रतों से, न तीर्थ यात्रा या तीर्थ सेवन से वैसी शुद्ध होती है जैसी कि अपने पति के चरणों के जल से।। (10)

भाव—अपने पति के प्रतिबद्धता ईमानदारी तथा सेवा का भाव स्त्री के लिए कल्याणकारी है, इससे उसे दान, उपवास-व्रत, तीर्थयात्रा व तीर्थ-सेवन की भी शुद्धि प्राप्त होती है। यह स्त्री की दासता नहीं समझी जानी चाहिए बल्कि यह स्त्री का पूर्ण समर्पण है जिससे पति भी उसके वश में और आश्रय में आ जाता है।

पाद्यशेषं पीतशेषं सन्ध्या शेषं तथैव च।
श्वानमूत्रसमं तोयं पीत्वा चान्द्रायणं चरेत्।(11)

अर्थ—पैर धोने से बचा हुआ, पीने से बचा हुआ और सन्ध्या से बचा हुआ जल कुत्ते के मूत्र के बराबर हैं। उसे पी लेने पर द्विज चान्द्रायण व्रत करें तब पवित्र होते हैं।। (11)

भाव—किसी भी कार्य से बचा हुआ जल अशुद्ध होता है अतः उसे नहीं पीना चाहिए। पैर-धोने के बाद बचा जल, पीने और संन्ध्या से बचे जल को जो व्यक्ति पीता है वह चान्द्रायण व्रत के बाद ही पवित्र हो सकता है। चाणक्य के मतानुसार खान-पान की पवित्रता पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

दानेन पाणिर्न तु कंकणेन स्नानेन शुद्धिर्न तु चन्दनेन।
मानेन तृप्तिर्न तु भोजनेन ज्ञानेन मुक्तिर्न तु मंडनेन। (12)

अर्थ—हाथ की शोभा दान से होती है न कि सोने के कंगन से, शरीर की शुद्धि स्नान से होती है न कि चंदन के लेप से, बड़ों की तृप्ति सम्मान से होती है न कि भोजन से, मुक्ति ज्ञान से होती है न कि शरीर के शृंगार से।। (12)

भाव—बाहरी आडंबरों से न तो शुद्धि हो सकती है न पुण्य! हाथ में स्वर्णाभूषण पहनने से हाथ की शोभा नहीं होती बल्कि जो हाथ सत्कार्य करते हैं वही शोभायुक्त माने जाते हैं। शरीर की शुद्धि जल के बिना सम्भव नहीं, चाहे चन्दन का लेप क्यों न कर लिया जाए। बड़े लोगों को भोजन खिलाकर संतुष्ट नहीं किया जा सकता जब तक उन्हें सम्मान न दिया जाए। इसी प्रकार चन्दन-तिलक आदि धार्मिक शृंगार से मनुष्य मुक्ति नहीं पा सकता जब तक उसमें ज्ञान न उत्पन्न हो। तात्पर्य वही है कि बाहरी दिखावे से बचते हुए हमें वास्तविक शुद्धि तथा वास्तविक पुण्य को प्राप्त करना चाहिए और बड़ों के प्रति सम्मान का भाव रखना चाहिए। जीवन परम ज्ञान की खोज के लिए मिला है उसी में लगना चाहिए।

नापितस्य गृहे क्षौरं पाषाणैर्गन्धलेपनम्।
आत्मरूपं जले पश्येच्छक्रस्यापि श्रियं हरेत्। (13)

अर्थ—नाई के घर बाल बनवाना, पत्थर पर से चन्दन लगाना, जल में अपना मुँह देखना यह इतना बुरा है कि चाहे इन्द्र भी करे तो उनकी लक्ष्मी को भी नष्ट कर देता है। (13)

भाव—आचार्य चाणक्य के अनुसार नाई के घर बाल कटवाने से, पत्थर की देवप्रतिमाओं पर चन्दन लगाने से और अपनी परछाईं को पानी में देखने से आदमी की प्रतिष्ठा नष्ट हो जाती है और वह शोभाहीन हो जाता है।

सद्यः बुद्धिहरा तुण्डी सद्यः प्रज्ञाकरी बचा।
सद्यःशक्तिहरा नारी सद्यः शक्तिकरंपयः। (14)

अर्थ—कुंदरू तुरन्त बुद्धि को नष्ट करता है, बच शीघ्र बुद्धि को देती है, स्त्री तुरन्त शक्ति को नष्ट करती है, और दूध तुरन्त बल को देता है।। (14)

भाव—यहाँ आयुर्वेद की नीति का ज्ञान प्रस्तुत किया गया है। चाणक्य के अनुसार नारी व्यक्ति को दुर्बल बनाती है, अतः उससे बचना चाहिए। बुद्धि और ताकत के लिए बच और दूध का प्रयोग करना हितकर रहता है क्योंकि

ये तुरन्त असर करने वाले हैं।

यदि रामा यदि च रमा तनयो विनय गुणोपेतः।
तनमे तनयोत्पत्तिः सुखमिन्द्रे किमाधिक्यम्।(15)

अर्थ—यदि स्त्री सुन्दर हो, और घर में लक्ष्मी (धन) हो, पुत्र नम्रता आदि गुणों से युक्त हो, और पुत्र का पुत्र (पौत्र) हो तो इससे बढ़कर इन्द्रलोक में क्या सुख है।

भाव—यहाँ आचार्यप्रवर चाणक्य एक आदर्श व सुखी परिवार का चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं। सुन्दर स्त्री परिवार की आर्थिक सम्पन्नता, विनम्रता और सद्गुण पुत्र और पौत्र का होना एक सुखी व आदर्श परिवार है।

परोपकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम्।
नश्यन्ति विपदस्तेषां सम्पदः स्युः पदे-पदे।(16)

अर्थ—जिन सज्जनों के हृदय में दूसरे की भलाई उठती रहती है, उनकी सारी विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और पग-पग पर सम्पत्तियाँ आती रहती हैं।

भाव—निस्वार्थ भाव से किए गए सेवा-परोपकार करने वाले लोगों की विपत्तियाँ नष्ट होती हैं तथा सुविधा साधन, सम्पत्ति भी उन्हें पग-पग पर मिलती है। इसलिए परोपकार ही श्रेष्ठ जीवन है, केवल अपने पेट-प्रजनन में तल्ली न तो पशु भी रहते हैं।

आहारनिद्राभय मैथुनानि समानि चैमानीनृणां पशूनाम्।
ज्ञानराणामधिकोविशेषज्ञानेनहीनाः पशुभि समानः।(17)

अर्थ—भोजन, निद्रा, भय, स्त्री प्रसंग, ये मनुष्यों और पशुओं में समान रूप से हैं। पशुओं की अपेक्षा मनुष्य में केवल ज्ञान एक विशेष गुण है। अतः ज्ञान से हीन पुरुष पशु के बराबर है।। (17)

भाव—मनुष्य पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। सोना, भोजन, भय, मैथुन यह भले ही मनुष्य में पशुओं के समान हो परन्तु एक चीज मनुष्य को पशुओं से बिल्कुल अलग करती है वो है उसकी ज्ञान चेतना। ज्ञान चेतना की दृष्टि से मनुष्य अन्य प्राणियों से बहुत अधिक विकसित है और मनुष्य को मनुष्य का शरीर प्रकृति ने अनुदान स्वरूप दिया ही इसलिए है कि वह अपनी ज्ञान चेतना सतत विकसित करते हुए परमज्ञान की अवस्था तक जा पहुँचे। यदि

मनुष्य ऐसा नहीं करता तो वह ईश्वरीय योजना तथा प्रकृति के अनुदान की अवमानना करता है। ऐसा मनुष्य पशु के ही बराबर माना जाता है।

दानार्थिनो मधुकरा यदि कर्णतालै-
र्दूरीकृताः करिवरेण मंदाधबुद्धयो।
तस्यैवगण्डयुग मण्डन हानिरेषा
भृंगाः पुनर्विकचपद्यवने वसन्ति।(18)

अर्थ—गजमद की अभिलाषा से हाथी के पास भौंरे मदांध मतवाले गजराज द्वारा कानों के फड़फड़ाने से यदि दूर कर दिए गए तो उनमें भौंरों की क्या हानि हुई? बल्कि उस गजराज के दोनों गण्डस्थलों की शोभा की हानि हुई, वह तो फिर से किसी विकसित कमल के वन में बस जाते हैं।। (18)

भाव—यदि कोई गुणी या विद्वान किसी धनी के यहाँ जाता है और धनी उसका उचित सम्मान नहीं करता है तो उससे उस धनी की शोभा नष्ट होती है न कि गुणी-विद्वान की, क्योंकि गुणी और विद्वान के लिए सारा संसार है।

राजाः वेश्या यमश्चाग्निः तस्करो बालयाचको।
परदुखं न जानन्ति अष्टमो ग्राम कण्टकः।(19)

अर्थ—राजा, वेश्या, यमराज, अग्नि, चोर, बालक, भिक्षुक और आठवाँ गाँव का काँटा, ये दूसरे के दुःख को नहीं जानते।। (19)

भावा—राजा निष्पक्षता व राज्यनीति के कारण कठोर रहता है और कतई भावुक नहीं रहता इस कारण उस पर किसी के दुःखी होने का प्रभाव नहीं पड़ता। धनहीन पुरुष के किसी दुःख से वेश्या को मतलब नहीं होता अतः वह भी किसी के प्रति संवेदनशील नहीं होती। कर्मानुसार दण्ड की व्यवस्था देखने वाले यमराज जिसकी मृत्यु होती है उसे मृत्यु देते हैं, मरने वाले के रोने-धोने का इन पर कोई असर नहीं होता। अग्नि स्पर्श होने पर जलाती है, उसे किसी के जल जाने से कोई प्रयोजन नहीं रहता। चोर भी जहाँ चोरी करते हैं तो वहाँ के दुःख-सुख के परिणाम पर गौर नहीं करते। बालक अपने हठ के समय अभिभावकों की सुविधा-असुविधा नहीं जानते। भिखारी को भी अपनी भीख चाहिए यदि कोई अभावग्रस्त है तो उससे भिक्षुक को कोई अन्तर नहीं पड़ता। गाँव का काँटा नहीं जानता कि वह

किसी पथिक के पाँव में चुभ सकता है। तात्पर्य यह है कि ये सब जीवन के यथार्थ हैं और हर यथार्थ को स्वीकारना बुद्धिमानी कहलाता है।

अधपश्यसि किं बाले पतितं तव किं भुवि।
रे रे मूर्ख न जानासि गतं तारुण्य मौक्तिकम्।।(20)

अर्थ—कोई स्त्री अपने शरीर को देख रही है, उस पर कोई पुरुष पूछ रहा है—हे बाले! (स्त्री) तुम नीचे क्या देख रही हो? पृथ्वी पर तुम्हारा क्या गिरा है? स्त्री उत्तर देती है—हे मूर्ख! तुम नहीं जानते हो, मेरा युवावस्था रूपी मोती नष्ट हो (खो) गया है।। (20)

भाव—युवावस्था हमेशा नहीं रहती। यौवन का मोती एक बार गिर कर खो जाए तो ढूँढ़ने से भी नहीं मिलता। वास्तव में युवावस्था सत्कर्मों के अभ्यास तथा श्रेष्ठ प्रवृत्तियों के विकास का समय होती है। अतः उसका सदुपयोग करते हुए उसे अध्ययन, संयम आदि सत्प्रवृत्तियों में लगाना चाहिए।

व्याकाश्रयापि विफलापि संकटाऽपि
वक्रापि पंगिलभवापि दुरा सदापि।
गन्धेन ब धुरसि केतकि सर्वजन्तो-
रेको गुणः खलुः निहन्ति समस्त दोषान्।(21)

अर्थ—हे केतकी! यद्यपि तुम साँपों का घर हो, फलहीन भी हो, काँटेदार भी हो, टेढ़ी भी हो, कीचड़ में भी पैदा होती हो, दुःख से मिलती भी हो, तब भी सुगन्ध रूपी गुण से तुम सभी को प्रिय रही हो। कारण यह है कि एक ही गुण सभी दोष-समूहों को नष्ट कर देता है।। (21)

भाव—मनुष्य चाहे कितना अवगुणों से भरा हो, परन्तु एक विशेष प्रकार का गुण भी उसमें हो तो केतकी के समान उसके सभी अवगुणों को अनदेखा किया जा सकता है।